THE BOOK WAS DRENCHED

UNIVERSAL
LIBRARY
OU_178702
UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. Accession No.

Author

Title

This book should be returned on or before the date last marked below.

प्रकाशक

साहित्य-रत्न-भंडार,

आगरा।

प्रथमबार

१६४६

मूल्य १।।।)

मुद्रक

साहित्य प्रेस

५३ ए. सिविल लाइन्स

आगरा।

दो शब्द

श्रीमती होमवतीजी से हिन्दी जगत् पूर्ण परिचित है। उनका एक कहानी संग्रह 'निसर्ग' हम पहले भी पाठकों को दे चुके हैं। उसका पाठकों ने स्वागत् किया था, तभी हम उनका यह दूसरा संग्रह 'धरोहर' आज प्रकाशित कर रहे हैं।

पहले कहानी-संग्रह के और इसके बीच में एक लम्बी अवधि पड़ जाती है। इस बीच में समय में अगणित अनायास परिवर्तन हुए हैं, जो इतने महान हैं कि उनका यथार्थ मूल्य अभी नहीं जाना जा सकता पर इन सब परिवर्तनों का साहित्यकार पर भी गम्भीर प्रभाव पड़ा है। श्रीमती होमवतीजी घरेलू जीवन की झाँकियाँ देने में सिद्ध हस्त हैं! उनकी दृष्टि अन्य कहानीकारों की भाँति प्रेमी दम्पति के चारों ओर चक्कर नहीं काटती। उन्होंने घर को घर माना है, और उसमें जो विविधता मिलती है उसका चित्र अपनी ही शैली में उन्होंने दिया है, जिसमें समय का प्रभाव पर्याप्त प्रकट होता है। कहानी कला के क्षेत्र में हमारी दृष्टि में यह होमवतीजी की एक देन है, और हमारा विश्वास है कि इसका भी अवश्य स्वागत् होगा।

—महेन्द्र

विषय-सूची

१—धरोहर	....	....	१
२—राख की मटकी	....	....	८
३—पीतल की चूड़ियाँ	....	....	१४
४—भगवन्ती	....	....	३१
५—वह कौन था ?	....	....	४१
६—स्पेशल परमिट	....	...	५०
७—परिवर्तन	....	....	५८
८—मन की साध	....	....	६१
९—बिसाती	....	....	८६
१०—शशांक	....	....	९५
११—एप्रिल-फूल	....	....	१०५
१२—कहानी का अन्त	...	...	११९
१३—अन्तिम महारा	....	..	१५५
१४—कागज की नाव			१६९
१५—क्रिसमस कार्ड या नालिश		....	१७८
१६—युगान्तर	..	....	२०३

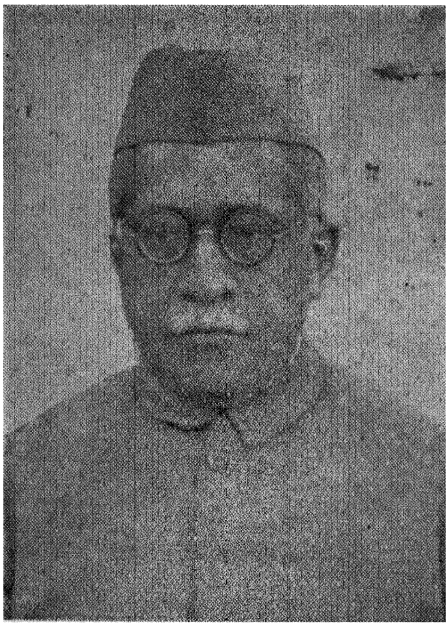

माननीय सर सीताराम

पूज्य चाचाजी,

'पृथ्वी से भारी और आकाश से ऊँचा क्या है ?

दक्ष के इस प्रश्न का उत्तर देते हुये धर्मराज ने कहा था,

'माता पिता का स्नेह !'

आज मैं उसी दुलार का प्रतिकार करने चली हूँ

यह मेरी अज्ञ हठ नहीं तो क्या है !

किन्तु, आपने आज तक जैसे मेरे अन्य आग्रहों की रक्षा की वैसे ही

यह **धरोहर** भी

स्वीकार कीजिए।

'पर्णकुटी'

मेरठ।

आपकी स्नेहछाया में—

होमवती।

धरोहर

— १ —

मुहल्ले का बच्चा-बच्चा जानता था कि पण्डित दुर्गाप्रसाद के समान नेक, मिलनसार और परोपकारी व्यक्ति शहर भर में दूसरा कोई नहीं है। भक्त-मण्डली के वह शिरोमणि थे और दान-शीलता में लोग उनको राजा कर्ण से कम नहीं समझते थे। जिन लोगों के पास बहुत रुपया होता है उनकी थोड़ी बहुत उदारता का कोई विशेष महत्व नहीं। पर, साधारण परिस्थिति के ऐसे व्यक्तियों की दयालुता अवश्य प्रशंसनीय है, जो अपना सर्वस्व दीन-दुखियों की सेवा में दे डालने के लिये सदा प्रस्तुत रहते हैं। पण्डित दुर्गाप्रसाद ऐसे ही व्यक्ति थे। पण्डितजी अपने छोटे से मकान में अकेले ही रहते थे—किसी को यह भी नहीं मालूम कि कभी उनके परिवार में कोई था भी या नहीं।

उनके पास कितना पैसा है, कितनी आमदनी है और क्या खर्च है—यह भी कोई नहीं जानता था। हाँ, इतना तो सभी समझते थे कि वह कोई नङ्गे-भूखे आदमी नहीं हैं। स्वास्थ्य और सम्मान दोनों ही उन्हें प्राप्त थे। आज तक किसी ने उन्हें बीमार पड़ते नहीं देखा।

सुबह चार बजे उठ कर कुए के पानी से आँगन में बैठ कर स्नान करते और एक लोटा जल, थोड़े फूल तथा दूधवाले की दूकान से एक पैसे का कच्चा दूध और चुटकी भर मीठा लेकर शिव-मन्दिर की ओर 'गङ्गालहरी' का पाठ करते हुए चले जाते। वहाँ से पूजा-पाठ करके लगभग बारह-एक बजे तक घर लौटते। फिर क्या बनाते और क्या खाते थे यह कोई नहीं जान पाया। तीसरे पहर गीता, भागवत या रामायण लेकर बैठ जाते, महल्ले के दो चार बड़े बूढ़े भी आ बैठते। छोटे बच्चे कुछ रेवड़ी, मूँग-फली या दो-चार बेरों के लालच में नित्य ही उनके दरवाजे में चिपके हुए बैठे रहते। पण्डितजी का नियम था कि वह कथा के बाद दो-चार पैसे का प्रसाद जरूर बाँटते थे।

रात्रि का समय वह अपने पड़ोसियों और मित्रों का हाल-चाल पूछने में लगाते। कोई बीमार है तो देखने जरूर जाते और उसे दो-चार जबानी नुसखे भी बतला आते; किसी के यहाँ शादी है तो पण्डितजी घी-अनाज का इन्तजाम करने के लिए तैयार रहते; किसी का मकान बन रहा है तो वह अपनी सलाह सम्मति के अलावा थोड़ा-बहुत वक्त भी देने में आना-कानी न करते।

जरूरत पड़ने पर लोग दो-चार रुपये उनसे उधार लेकर अपना काम भी निकालते थे, चाहे फिर अदा करें या नहीं। किसी के यहाँ मेहमान बन कर वह आज तक कभी नहीं गये, और न किसी को बुलाया ही। वैसे वह सबके अपने थे और

[दो

सबसे दूर भी रहते थे। जिस रास्ते वह निकलते, लोग सम्मान प्रदर्शित करने के लिए खड़े हो जाते सेठ-साहूकारों से लेकर सड़क का मेहतर तक उन्हें झुक कर नमस्कार करता।

स्त्रियों की ओर, चाहे वृद्धा हों या युवती, पण्डितजी कभी दृष्टि उठाकर नहीं देखते थे। संसार में रहकर भी वह समस्त प्रलोभनों से दूर रहते थे—निर्लिप्त और निर्विकार व्यक्ति की तरह। सभी उनको देवतास्वरूप मानते थे।

— २ —

पण्डितजी दो-चार कोयले और रूखे उपले लेकर अंगीठी में आग सुलगाने बैठे, तभी बराबर वाले मकान की छत से, मुंडेर पर बैठा हुआ राधे बोल उठा—'आऊँ बाबा नीचे? मैं भर दूँ तुम्हारा चिलम?'

पण्डितजी ने एक बार निगाह ऊपर उठाई—और लड़के की बगल में उसकी ताई को भी खड़ा देखा। सिर झुकाये-झुकाये ही बोले—'नहीं रे आग तो सुलग ही गई, अब चिलम पर धरते कितनी देर लगेगी? और आज तू अपनी रेवड़ी नहीं ले गया रे राधे?' 'आया बाबा!' सुनने के साथ ही पण्डितजी ने सुना उसकी ताई कह रही है—'संसार के सारे माया-बन्धन तोड़ने के बाद भी इन्हें बच्चों को रेवड़ी खिलाने का मोह बना है।' पण्डितजी ने सुना अनसुना करके अपना हुक्का उठा लिया और 'शिव-शिव' रटते हुए दालान में जा बैठे।

इसी समय रामलाल ने आँगन में आकर अपने कुरते की

झोली में रखे हुए फूलों को दिखलाते हुए कहा—'तुम्हारे ही लिये लाया हूँ बाबा ! बड़ी दूर से । उस कोल्हीवाली बगीची से ... देखो तो, अच्छे हैं कि नहीं ?'

'हाँ, देखूं । जा... उस चौकी पर रखदे । आज तू बड़ा गन्दा दीख रहा है रे रामू ! मुँह ऐसा लग रहा है जाने कबसे पानी से नहीं धोया । आ, इधर आ कुएं पर.....' कहते हुए पण्डितजी उठे, पानी निकाला और रामलाल का हाथ-मुँह धोकर उसकी आँखों में काजल लगाने के लिए दिया जलाकर बैठ गये । यह सब करने के बाद एक गुड़ की डली उसके हाथ पर धरते हुए कहा—'अपनी माँ से कहना तेरे कपड़े धो देगी ।' बालक ने स्वीकृति-सूचक सिर हिला दिया, और गुड़ चाटता हुआ चला गया । पण्डितजी उसे विदा करके तुलसीजी की आरती के लिए बत्ती बटने बैठ गये ।

— २ —

शिवरात्रि के दिन पण्डितजी के यहाँ मेला-सा लगा रहता ; गली-मुहल्ले के सब छोटे-बड़े ठण्डाई के आयोजन में लगे रहते । सभी पण्डितजी का हाथ बटाने और प्रसाद पाते ; कुछ पीते और कुछ घर ले जाते ।

किन्तु कहाँ से बादाम आये और कहाँ से दूध-चीनी, यह बात कोई भी नहीं बता सकता था । कभी कोई कुछ लाने का भी यत्न करता तो पण्डितजी इसे स्वीकार नहीं करते थे । उनकी किसी बात का कोई बुरा भी नहीं मानता था । पण्डितजी के

[नाग

स्वभाव से सभी परिचित थे। वर्ष भर में दो-चार बार ही लोगों को उनकी सेवा के अवसर मिलते थे—जन्माष्टमी, गङ्गासप्तमी, अन्नकूट और शिवरात्रि के दिन, जब इन अवसरों पर पण्डितजी उत्सव मनाया करते थे।

बच्चों के लिए तो यह विशेष आकर्षण के दिन होते थे। कोई बेलपत्र ला रहा है तो कोई फूल, कोई चन्दन घिस रहा है तो कोई बादाम ही छीलने में व्यस्त है। इन दिनों बच्चों की खुशी का कोई ठिकाना न रहता, मानो वही सब के कर्ता-धर्ता हैं और उन्हीं का उत्सव है। लेकिन आज भी तो शिवरात्रि है। फिर भी कोई धूम-धाम नहीं। घर में जैसे कोई है ही नहीं। सब तरफ सूना है, उदास है। बच्चे आये और डरते-डरते घर में झाँक कर चले गये। युवक आये और सब ओर देख कर लौट गये। कुछ बड़े-बूढ़ों ने अन्दर जाकर देखने का साहस किया: देखो, पण्डितजी अभी तक मुँह ढके बेहोशी की हालत में पड़े हैं। न हाथ हिलते हैं न पैर, जबान से बोला तक नहीं जाता। पल भर में सबकी जबान पर एक ही चर्चा थी—पण्डितजी को फालिज का दौरा हुआ है; आज त्यौहार नहीं मनाया जायगा।

उनकी बीमारी से सबके दिल बैठ-से गये। बच्चे आँखों में आँसू भरे कुछ समझने की कोशिश कर रहे थे, युवक डाक्टर-हकीमों के पास दौड़ लगा रहे थे और बूढ़े उन्हें जमीन में उतार कर डाल देने के वक्त के इन्तजार में थे। औरतें भी बारी-बारी से छत पर आ आकर झाँक लेती थीं। लेकिन सब कोशिशें

बेकार हुई। दवा क्या, घूंट भर गङ्गाजल भी गले से नीचे नहीं उतरा।

शाम होते न होते साँस बन्द हो गई। उन्हें उतार कर जमीन पर डाल दिया और गङ्गाघाट पर ले जाने की तैयारियाँ होने लगीं। सवाल था क्रिया-कर्म का। यह सब कौन करे? अपने नाते-गोते का कोई नहीं। दो बूंद आँसू गिराने वाला भी नसीब नहीं। किसी ने कहा—'अचारज से दाह-कर्म कराना ठीक है', कोई बोला—'यह सब झगड़ा है, जल-प्रवाह करा दिया जाय'; और किसी ने सम्मति-सूचक सिर हिलाते हुए कहा—'चाहे जो करो, यह तो देवता थे—स्वर्ग सिधार गये: न किसी से सेवा कराई, न टहल।'

इन सब बातों के साथ प्रश्न उठा रुपये का। वह कहाँ से आये, कौन आगे बढ़कर खर्च करे? वैसे तो वहाँ ऐसे बहुत से लोग मौजूद थे जो पण्डितजी के अहसानों से दबे पड़े थे; लेकिन इस वक्त सब चुप थे। सबकी आँखें केवल उनकी धरोहर पर लगी हुई थीं। किसी ने कोठरी खोल कर देखने की सलाह दी, तो किसी ने धीरे से अलमारी में लटकते हुए ताले की ओर इशारा किया। एक-एक करके पण्डितजी के तमाम सामान की तलाशी ले ली गई, पर कहीं से भी कोई भारी रकम हाथ न लगी। डिब्बे-डिबियों में चूरन-चटनी या हाजमे की गोलियाँ मिलीं, शीशियों में मसाले भरे पाये गये, घड़े और मिट्टी की छोटी हंडियों में दाल-आटा दीख पड़ा, और बक्स-सन्दूकों में

कुछ कपड़ों के अलावा कागजों के टुकड़े बँधे रखे। सहमा रामभजन पाधा एक टूटी-सी काठ की सन्दूकची उठाये हुए आया, जिसकी ताली का कहीं पता नहीं लग सका।

आखिरकार अपनी अपनी अक्ल लड़ाने के बाद ठण्डाई घोटने के पत्थर से बक्स का ढक्कन तोड़कर चूर-चूर कर डाला गया। उसमें से जो धरोहर निकली—उसे देख कर लोगों के आश्चर्य की सीमा न रही—सोने की एक छोटी सी नथ, कानों की बालियाँ, चाँदी के बिछुए और पैरों की पायजेब से लेकर, कङ्घी-चोटी व काँच की चूड़ियाँ और सेंदूर की डिबिया तक उसमें सहेज कर रखी मिली। नकद थे सिर्फ बीस रुपये और कई सौ के कागजात।

लेकिन इस वक्त सबकी निगाह उन चीजों पर थी जिनकी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी पण्डितजी यह सब किसके लिए खरीद कर लाये, कब और क्यों? ऐसा लग रहा था जैसे यह सब शृङ्गार की चीजें आज ही खरीदी गयी हैं, बिल्कुल नई और साफ। दालान में एक ओर इस इतिहास का मौन प्रतीक पण्डितजी का मृत शरीर पड़ा था—और दूसरी तरफ किसी का सूना सुहाग बिखरा पड़ा था। सबकी आँखों में कौतूहल था पर उसका हल करने वाला कोई नहीं। पण्डितजी की जीवन-कथा का यह नया ही पृष्ठ था—जिसे न कोई पढ़ सका और न समझ ही सका।

———

राब की मटकी

रज्जो ने अपनी माँ के गले में दोनों बाहें डाल कर कहा, "सब तो नये-नये कपड़े पहन कर मेले जा रहे हैं अम्माँ और मैं जाऊँ यह ओढ़नी ओढ़कर" और फिर कई जगह से फटी तथा तार-तार हुई ओढ़नी उसने माँ के सामने कर दी। गोविन्दा ने उसे छाती से लगा कर कहा, 'सबकी क्या कुछ हिरस थोड़े ही है बेटी', खेती चौपट हो गई और कोई रोज़गार नहीं फिर उनमें किस मुँह से कहा जाय ? तेरे बापू के जी को दुःख होगा और छड़ियों का मेला कोई वैसा बड़ा मेला भी नहीं। दशहरे पर जैसे भी बन पड़ेगा तुझे गबरून की नई ओढ़नी बना दूँगी।"

"ऊँ...... ऊँ हम तो नहीं, अम्माँ हम तो आज ही नई ओढ़नी लेंगे।" बालिका मचल गई और फिर रोते-रोते सो गई।

डूँगर ने रात को खाट पर पड़कर स्त्री से कहा "बच्चे का मन माँ बाप तन-पेट काटकर भी रखते हैं, पर हम अभागे तन-पेट की कमी को भी पूरा नहीं कर पाते। मन कहाँ से रक्खें। नहीं, वह राब की मटकी रक्खी है न ? कल बाज़ार जाकर उसे ही बेच डालो। चार छः आने जो कुछ उठे उनसे डेढ़ दो गज़

का एक टुकड़ा लेकर इसके सिर पर डाल देना ! भगवान ने न जाने क्या दया की जो अब आकर इसका मुँह दिखाया है, तो भी इस तरह भटकते हैं ?" कहते-कहते डूँगर का मन भारी हो उठा। वह छत में लटकती हुई बल्लियों को देखने लगा। गोविन्दी के कलेजे से एक ठण्डी साँस निकल पड़ी।

अड़ौस पड़ौस के सभी बच्चे छड़ियाँ देखने चले गये, किन्तु रज्जो नहीं गई। इसका दुःख रज्जो को चाहे उतना न भी हुआ हो जितना उसके माँ बाप को। गोविन्दी ने चने की रोटी में थोड़ा-सा गुड़ मिला कर बच्ची के सामने रख दी। वह उसे खाने में इतनी खुश और मस्त हो उठी कि मेला तमाशा सब कुछ भूल गई।

"देख रज्जो ! हम चर्खी लाये और वह देख मंतू लाया है डुगडुगी। तू दिखा तो भला, मेले में से क्या-क्या लाई।" कहता हुआ जीवन कूद-कूद कर अपनी चर्खी घुमाने लगा। रज्जो ने उसकी ओर होंठ पिचका कर कहा "ऊँ....लाया होगा। हमारे यहाँ इतना सारा गुड़ जो धरा है। रात हमने गुड़ से रोटी खाई, तुमने भी खाई !"

"हूँ......लिये फिरती है गुड़ ! अरे, हमारे घर में मटके के मटके भरी राब धरी है। तेरे घर में है बता ? हम तो रोज छाछ में राब डाल कर पीते हैं।

और तू.......!

हम भी ?

ई……हम भी', कह कर ढीट बालक उसे बिराने लगा 'पीती हैं भी ये छाछ ! कभी-कभी हमारे घर से ही तेरी माँ ले जाती है।' अब रज्जो से सहन न हो सका। रोती हुई गोविन्दी के पास जाकर बोली—देखो अम्माँ जीवना नहीं मानता कह रहा था कि हमारे घर से छाछ माँग कर पीती है।

युवती ने उसके बालों में उँगलियाँ फेरते हुये कहा—बेटी मैं सब सुन रही थी। तुम उनके साथ मत खेला करो। गँवई गाँव के लोग भी एक दूसरे को देख-देख कर जले जाते हैं।

"नहीं, बच्चों की बातों का ख्याल न करो। भगवान ने चाहा तो अब की फसल अच्छी होगी। फिर हाथ खुल जायगा! कोई ऐसी ही तङ्गी थोड़े ही रहेगी?" कह कर डूँगर ने घरवाली को समझाने का यत्न किया।

'अच्छा; अम्माजी। हमारे घर में राब है कि नहीं? सबके घर में तो मटकों में राब धरी है।'

पति पत्नी ने एक दूसरे की ओर भेद भरी दृष्टि से देखा। फिर डूँगर ने रज्जो को अपनी ओर घसीट कर कहा, देख वह कोने में राब की मटकी धरी है।"

'देखूं', कह कर उसने मटकी का मुँह उघाड़ कर देखा, और फिर उसमें एक उँगली गढ़ा कर चाट ली। मानो इतने ही से रज्जो की आत्मा को शान्ति मिल जायगी और वास्तव में यह राब ही है इसका विश्वास भी हो जायगा।

हाट के दिन गोविन्दी राब की मटकी सिर पर धर—और

कन्या की उँगली पकड़ कर बाजार करने घर से चली। रज्जो ने पूछा, 'मटकी क्यों ले जा रही हो अम्माँ ?'

"इसे बेच कर तेरे लिए नई ओढ़नी लाऊँगी न ?"

ऊँ हँ नहीं यह नहीं अम्माँ !

अच्छी अम्माँ ? इसे हम खायेंगे जो ? फिर जीवन कहेगा कि हमारे तो राब के मटके धरे हैं ?

"पेट का खाया कौन देखता है बिटिया ? जब तू नई ओढ़नी ओढ़ेगी न ? तब सब पूछेंगे—रज्जो कहाँ से पाई ?" कह कर युवती ने बालिका को फुसला कर अपनी आँखें मसल डालीं।

सारा बाजार छान डालने पर भी किसी ने दो आने और किसी ने तीन आने से अधिक दाम उस छोटी-सी मटकी के न लगाये। किसी ने कहा—"राब तो आजकल सभी के घर में पड़ी है।" कोई बोला—'क्यों बेचती हो, है ही कितनी सी ? घर वाल-बच्चे ही खा डालेंगे।' अपने पास-पड़ोस की स्त्रियों के सामने गोविन्दी लाज से गढ़ी जाने लगी। उसने निराश होकर मटकी सिर पर रखली। सोचा—"कल वह शहर में जाकर बेच आयेंगे। वहाँ दाम भी चाहे अच्छे उठ आवें।"

दोनों माँ बेटी जैसी गईं थीं वैसी ही लौट आईं। डूँगर ने चिलम पर आग धरते हुए पूछा—"देकर नहीं आई ?"

"लेता ही कौन है ? दो अढाई आने में क्या दो गज गबरून थोड़े ही मिल जायगी। चाहे सस्ती में मस्ती लो पर दो आने

गज से कम में कभी नहीं मिल सकता।" उसकी आँखें भर आईं। बालिका ने पिता की पीठ पर झूलते हुए कहा 'बापू! यह ओढ़नी तो अभी अच्छी है, फिर रामलीला पर मंगा देना। हम तो राब खायेंगे: जीवना कहता था, ...

"चुप चुडैल बड़ी जबान चलने लगी है" माँ ने उसे डाँट दिया। डूंगर के समझाने को कुछ बाकी न रहा। उसने स्त्री को शान्त करने की चेष्टा करते हुए कहा—'उसे डाँटो नहीं। ठहरो, कल मैं शहर जाऊँगा.... " और जमींदार बाबू के यहाँ भी! वह औरों की नाँई नहीं हैं, थोड़ी बहुत दया माया रखते ही हैं। और मान लो कहीं नौकरी नहीं भी लगी तो फिर जैसे भी बनेगा थोड़ा सन लेकर घर लौटूँगा, रस्सी बटकर बेचने में दो चार आने इकट्ठे हो ही जायेंगे। कह कर वह राब की मटकी उठा घर में धर आया। स्त्री ने चूल्हे में कण्डा लगाते हुए कहा—'सन्तान भी तभी अच्छी लगती है जब चार पैसे हों।' पर डूँगर ने जैसे कुछ सुना ही नहीं, वह लड़की का हाथ पकड़ कर हुक्का थामे हुये बाहर नीम की छाया में जा बैठा।

* * * *

आधी रात के समय गरजती हुई ऐसी घटा उठी कि मानो प्रलय ही हो जायगी। छप्पर चूने लगा। डूंगर ने दो खाटें जोड़ कर बाँध दी और ऊपर से फटे पुराने गूदड़े डाल कर रज्जो को सुला दिया। पर यह क्या, जमीन से मानो पानी के सोते फूट पड़े। देखते ही देखते सारे घर में पानी भर गया, और

फिर ओलों की मार ने तो छप्पर का तिनका-तिनका बेध डाला। वह दोनों राम-राम भजने लगे। रज्जो मारे डर के चीखने लगी। दिया बुझ गया। हाथ को हाथ नहीं सूझता था। अब करें तो क्या करें? जैसे तैसे रात कटी। दिन निकलने पर जब वर्षा का वेग कुछ कम हुआ तो पति-पत्नी ने एक दूसरे की ओर देख कर कहा, इससे तो अच्छा होता कि दीवारें भी गिर पड़तीं और हम तीनों यहीं दब कर रह जाते। घर गृहस्थी सभी तो उजड़ गई। भगवान अभागों को मौत भी तो नहीं देता। रज्जो खाट पर बैठी-बैठी सब देख रही थी जैसे घर में गङ्गा माई ही प्रकट हो गई। चारों ओर जल ही जल दीख रहा था। छप्पर का फूंस छितरा पड़ा था। घर गृहस्थी की चीजें कच्छ मच्छ की भांति पानी पर तैर रही थीं। इसी बीच रज्जो चीख उठी, हाय अम्मा! राब की मटकी....! सचमुच मटकी फूट कर खण्ड-खण्ड हो गई थी, राब का निशान भी बाकी न बचा था। वे तीनों आँखें फाड़ कर उसकी ओर देखने लगे।

पीतल की चूड़ियाँ

—१—

क्रिया कर्म समाप्त कर जीवन की बहू अपने एक मात्र आधार जुगुल की उँगली पकड़े हमारे घर फिर वापस आगई। रसोई घर में से पटड़ा उठाकर वह चौखट के सहारे बिछा कर बैठ गई, जैसे चारों पल्ले झाड़ कर, उसे अब जहाँ चले जाना था-चली आई। किसी प्रकार की भी भावनायें अब उसमें शेष नहीं रह गई हैं।

उसकी आँखों में आँसू नहीं थे। वह जैसे पति की लम्बी बीमारी में सेवा करते करते घुट घुट कर सब पी गई। हाँ, व्यथा का धधकता हुआ कुण्ड वह फिर छिपा न सकी। वह उसकी सूखी हुई देह और गढ़े में धँसी आखों से स्पष्ट दीख रहा था। घर के नौकर-चाकर तक आज उसे बड़े आश्चर्य से देख रहे थे, जैसे बिलकुल नई होकर आई है वह! और वह चुपचाप सिर झुकाए बैठी ही रही, बिलकुल निस्तब्ध और मौन! जुगल उसके कन्धे से चिपका खड़ा रहा। अजायब-घर में नये जन्तु के समान दीख रहे थे वे दोनों सब को। घर की महरी ने सब्जी का छीलन समेटते हुए इस अप्रिय मौन को भंग किया, बोली—

"कैसी लुटी हुई सी दीख रही है—तब दो दो काँच की चूड़ियाँ, पैरों में एक एक बिछुवा पहरे हो कैसी छिपती थी, माथे पर रोली का टीका जगर मगर करता रहता था और आज....? हे भगवान! निःसन्देह जोवन की बहू का सूना वेष देख कर छाती फटती थी, हाथ पैर बिलकुल नंगे, माथा सूना, अंग पर एक मैली-सी धोती और चादर लपेट बैठी थी वह। महरी की बात पर भी किसी ने कुछ नहीं कहा, जैसे सब को साँप सूंघ गया हो। मेरी दादी रुई तूम तूम कर पूजा के लिए बत्तियाँ बना कर घी के कटोरे में डुबाती रहीं-और ताई नवरात्रों के लिये फलाहार के प्रबन्ध में कूट बीनती रहीं। अम्मा ने ही सबको चुप देख कर कहा-"जा जुगल! बीबी के साथ खेल....।" और फिर सब्जी का थाल रसोई में रख कर जोवन की बहू के पास जाकर बोलीं—"उठो, चादर उतार कर ... ले अपने चौबारे में रख आओ और चूल्हे में आग जला ... ना चढ़ादो, जो होना था-हो चुका। यह तुम्हारा घर है, किसी बात की चिन्ता न करना। भगवान की इच्छा को तो कोई टाल नहीं सकता, अब और क्या चारा है?" अम्मा की बात मेरी दादी और ताई को जैसे नहीं भाई, वे दोनों एक दूसरी की ओर देख कर बोलीं—"गंगा भी नहा आई है या नहीं? वैसे ही चौके में घुसा लोगी-पति के साथ स्त्री का भी आधा अंग चिता पर जल जाता है-ऐसा कहते हैं सब शास्त्र। जब तक गंगा न नहाए, तब तक तो वह मुरदे के बराबर रहती है।"

मेरी माँ अवाक होकर खड़ी की खड़ी ही रह गई, परन्तु जीवन की बहू ने उनकी उलझन को तुरन्त ही सुलझाते हुए कहा-"मैं आज सबेरे ही गंगाजी से लौटी हूँ माजी!" मेरी दादी को जैसे अभी इतनी-सी बात से सन्तोष नहीं हुआ। कहा-"अच्छा? उस मरने वाले को दो महीने भी घर में बैठ कर न रोया गया ..." बीच ही में माँ ने उनकी बात काट कर कहा-"सारे जीवन घर में बैठ कर रोने से भी तो जाने वाला नहीं लौट आता, हम तीनों भी तो जीते हैं - युग के युग बीत गये, छोटे छोटे बच्चों को छोड़, घर में कोई भी देखने सुनने वाला नहीं रहा, क्या किया जाये—यह इतनी बड़ी जमींदारी न होती तो न जाने क्या क्या सुनना पड़ता····।" और फिर उन्होंने जीवन की बहू का हाथ पकड़ कर उसे खड़ा कर लिया। मैं तब नवें वर्ष में पड़ी थी। शायद इसी साल फागुन में कान बिंधे थे। मुझे खूब याद था कि उस दिन मेरी माँ का सूना वेष देख कर, सभी घर कुनबे की स्त्रियाँ रो पड़ी थीं, और आज जीवन की बहू का हाथ पकड़े वह रो पड़ी। जुगल भी रोनी सी सूरत बनाये खड़ा था। उसकी माता के हृदय का बाँध भी टूट चला था। मैं यह सब देख कर खड़ी न रह सकी। जुगल का हाथ पकड़ कर कमरे में उसे ले गई। वहाँ जाकर मैंने उसे दो केले खाने को दिए और अपने बहुत से खिलौने दिखा कर कहा-"बता क्या लेगा? रेल-गाड़ी या पीतल का इक्का? टमटम में तो भइया! गुड़िया बैठ कर बाग की सैर को जाती है कल से तू ही इसे घुमाने ले जाया

करेगा, है न !"

जुगल ने स्वीकृति में सिर हिला दिया और केला खाने लगा। मैंने उसे इक्का दे दिया, क्योंकि रेलगाड़ी में चाबी भरना उसे नहीं आया। जुगल के अंग पर मैला-सा मलमल का कुरता था—और पुरानी कारचोबी काम की टोपी सिर पर थी, जो अम्मा ने कभी मेरी ही उसे देदी थी और अब उसका चँदोवा भी उखड़ गया था, जिसमें से जुगल के बढ़े हुए बाल बाहर निकल आते थे। मैं थी अम्माँ की एक मात्र संतान, शायद इसी-लिए कुछ अधिक अधिकार से काम लेने का स्वभाव बन गया था मेरा। जब कि और बच्चे आपस में रोते झींकते रहते तथा मारपीट लड़ाई झगड़ा करते रहते तब मैं दूर ही से उन्हें डाट देती थी। आज जुगल पर भी जैसे मेरा ही एकाधिकार था। उससे मैंने कहा मेरा कहना मानेगा....?....उसने फिर स्वीकृति में सिर हिलाया। मैंने अपने हाथ से एक नई कमीज और टोपी अपने सन्दूक में से निकाल कर पहनादी और एक पाजामा भी। मेरे पहिले भरे हुए कपड़े उसके बिलकुल ठीक आगये, और तब उसका हाथ पकड़कर आँगन में घसीट लाई। अम्मा को दिखा कर कहा— "देखो, होगया न राजा-सा...." मैंने देखा अम्मा के चेहरे पर तो मुसकान आ ही गई, पर मिसरानी भी अपनी हँसी न रोक सकीं। महरी बहुत बोलती थी। कहने लगी—"जैसों के तैसे ही होते हैं, बीबी तो बिलकुल छोटी बहूजी के ऊपर ही हैं, इन्हीं के सहारे से तो सब जी रहे हैं"

बड़ी अम्मा और ताई जी नाराज थी हीं बोली—"और

घर में है ही कौन ? तुम्हारी ही तरह सब नौकर-चाकर हैं. राज तो घर में छोटी बहू जी का ही है न ?"'अम्मा चुप सुनती रहीं। उस दिन का दिन जाने कैसा था, बड़ा उदास–बोझल और दुखद। आज भी उसकी याद आ ही गई जीवन के मरने से हमारे घर इतना फिसाद हो जायेगा यह तो कभी किसी ने सोचा ही न होगा—वह गाँव का मोहल्ला ही तो था हमारे घर और सब नौकरों ही के समान, बस। किन्तु जीवन की बहू जो लौट आई थी अपने एक बच्चे को भी लेकर, शायद इसी-लिए बड़ी अम्मा और ताईजी पहिले ही से उससे नाराज रहतीं थीं क्योंकि वह मेरी अम्मा को अधिक मानती थी, हर एक काम में सहारा देती रहती थी। उनकी पूजा के बर्तन माँजने से लेकर पूजागृह की सफाई तक, सुबह चार बजे उठ कर कर देती थी वह, जब कि घर में इतने नौकर होते हुए भी बड़ी अम्मा का सब काम मेरी माँ ही अपने हाथ से किया करतीं थीं। फिर भी वह ताईजी से अधिक घुली-मिली रहती थी। मेरे कोई भाई न था, ताईजी के एक लड़की के साथ लड़का भी था। वही समस्त सम्पदा का एकमात्र स्वामी था ! कदाचित इसीलिए बचपन ही से अधिक उद्दण्ड और हठी स्वभाव बन गया था उसका, वह जुगल को फूटी आँखों से भी नहीं देख सकता था। आए दिन घर में कोहराम मचा रहता था। एक दिन अम्मा ने जरूरी सामान मंगा कर जुगल को एक प्रारम्भिक स्कूल में दाखिल करा दिया। दिन भर वह वहाँ पड़ा रहता। सुबह-शाम मेरा काम करता था। गुड़ियों का घर झाड़ना, उन्हें समय पर खाना

खिलाने से लेकर शाम को बाग की सैर तक कराने का काम जुगल के जुम्मे था। जब किसी गुड़िया का विवाह होता तो जुगल नाई तक का काम करने को तय्यार हो जाता और इसी-लिए अपनी दुअन्नी में से मैं दो पैसे रोज उसे भी देती थी। वैसे अम्मा ने अलग उसकी इकन्नी बाँध दी थी। बाकी खाने पहनने से लेकर स्कूल का खर्चा सब अम्मा करती ही थी।

यह सब बातें घर के और लोगों को असहनीय थीं, और आए दिन कोई न कोई नई बात सामने आकर झगड़े का कारण बन जाती थीं। कल से अम्मा ने कुछ नहीं खाया, कारण—राधे भइया ने जुगल को खूब मारा और उसकी टोपी भी फाड़ दी। मैंने जब उसे बचाना चाहा तो उन्होंने मेरे पेट में अपने 'होल्डर' का 'निब' चुभा दिया जिससे खून की धार बह चली। सारे कपड़े खून में हो गए। इसी बात को लेकर अम्मा का मन बड़ा दुखी हो उठा। मेरी चोट के कारण ही नहीं, बल्कि बड़ी अम्मा के ऊपर उन्हें शायद अधिक क्षोभ था—थोड़ी सहानुभूति दिख-लाने के अतिरिक्त उन्होंने स्वयं भी कान खींच कर जुगल के मुँह पर चपत लगाते हुए कहा—"टुकड़ खोर! इतना साहस भी करने लगा कि पेड़ों पर से कच्चे ही आम तोड़ कर चुरा-चुरा कर खाने लगा...., जिसने तुम्हें मुँह लगाया है—वह तुम्हें लेकर अलग रहे, तुझे गोद लेने से तो आधी जायदाद बंटने से रही.... ।" और फिर मुझे ढकेलते हुए कहा—"जा लेजा इसे अपनी मां के पास—यह नया भइया बन कर रहेगा अब...., दोनों मां बेटी मरी जाती हैं इसके लिए; यह बामन का

लौंडा इन्हें पार उतारेगा ···।" और तभी ताईजी तुलसी के थाँवले की आड़ मे बैठी मुसकरा रही थीं। अम्मा अचार के लिये कच्चे आमों को छील रही थीं। आज सहसा ही उनका मन विद्रोही हो उठा। उन्होंने खड़े होकर सामने रक्खा हुआ आमों का टोकरा उठा कर दूर फेंक दिया—और प्रण किया कि वह अब अलग चूल्हे मे आग जला कर ही अन्न जल ग्रहण करेंगी। दिन भर घर का धन्धा समेट कर जो दो रोटी पेट मे डालती हैं—वह अब दासी के रूप में उनसे नहीं खाई जायेंगी, और न सब की भली बुरी सहने की शक्ति अब उनमें शेष है। लड़का नहीं है तो इस घर में उनका कुछ भी नहीं रहा—यह तो वह जानती है—पर दो रोटी पाने का अधिकार भी नहीं है क्या? परन्तु मनुष्य से बिलकुल पशु बन जाय वह, यह नहीं होगा अब। किसी को आश्रय देना यदि पाप है तो वह जुगल के लिये वह पाप भी करेगी।" उसे गोद लेकर जायदाद बँटवाने की बात उन्हें कितनी चुभी थी—यह मुझे याद है—उन्होंने केवल आकाश की ओर हाथ उठा कर यही कह दिया था—"भगवान तुम साक्षी हो, मेरे मन की तुम्हीं जानते हो, बस ···।" जुगल को चोरी का दोष लगाया गया था—पर उसने चोरी कहाँ की थी? एक आम टोकरे में से अम्मा के सामने से ही उठा कर वह नमक के साथ खाता-खाता बाहर जा बैठा था—पर आज इस बात से इतना झगड़ा होगा—यह तो सोचा भी नहीं था। मैंने भी आज पहिली बार ही यह समझा कि यह घर 'हमारा नहीं है। बाग बगीचे—घर-द्वार—जमीन-जायदाद

सब राधे भइया का ही है।

उक्त घटना के तीसरे दिन ही हम लोगों का निर्णय सब कुनबे वालों ने कर दिया—सामने वाला मकान रहने को. और, ढाई सौ रुपये खर्च के लिए जायदाद में। बाकी और विशेष खर्च जायदाद में ही चलेंगे—तथा बाग-बगीचों की सब चीजें भी आयेंगी। अम्मा ने मेरा हाथ पकड़ कर घर में बाहर पैर रक्खा, उनकी आँखों से आँसुओं की झड़ी लग रही थी। शायद वह सोच रही थी कि जीवन की बहू में और उनमें आज क्या अन्तर है ? पीछे-पीछे जीवन की बहू भी सिर पर कपड़ों की पोटली धरे, जुगल का हाथ पकड़े आ रही थी। मैंने अम्मा का हाथ हिला कर कहा—"जुगल भी आ गया अम्मा !" अम्मा कुछ कहें इसके पहिले ही जीवन की बहू बोल उठी—"मेरा अब वहाँ क्या रक्खा था?" और फिर मैंने झट जुगल का हाथ पकड़ कर कहा—"चल ;नये घर में रहेंगे भइया ! अब वहां हमें कोई नहीं मारेगा।"

— २ —

धीरे-धीरे कई वर्ष बीत गये. अम्मा का शरीर ओले के समान धीरे-धीरे घुलता रहा, वह खाट में लग गई। जुगल ने मैट्रिक पास कर लिया, और अब वह कालिज में दाखिल हो गया था—चाचाजी से कह कर अम्मा ने उसकी फीस भी माफ करा दी थी। मेरे विवाह की तैयारी होने लगी—अम्मा को सब से अधिक चिन्ता अब इसी बात की थी—कि वह मुझे अकेली छोड़ कर न मरें। राधे भइया को बराबर तीन साल

छठी कक्षा में फेल होते हो गये। वह पतंगें उड़ाने में तो सारे मुहल्ले में प्रवीण गिने ही जाते थे, अब वह कबूतर उड़ाना भी सीख रहे थे। दादी तो हमारे निर्वासन से वर्ष भर बाद ही स्वर्ग सिधार गई थीं। दुनिया जैसे बिलकुल बदल ही गई थी। उस दिन के बच्चे आज युवा हो गये थे--और युवा प्रौढ़...... यही तो संसार का क्रम है। किसी का घर बसता है तो किसी का घर उजड़ जाता है। विवाह धूम धाम से हो चुका है, और जैसे अम्मा का शेष कार्य भी पूरा हो गया, उन्होंने जी भर कर खूब पैसा लुटाया। सबको कपड़े और जेवर बाँटे गये। जीवन की बहू के हाथों में चाँदी की चूड़ियों के बदले सोने की चूड़ियाँ पड़ गईं। जुगल को अंगूठी और घड़ी मिल गई। तथा पंडित पिरोहित को दुशाले उढ़ा दिये गये। खूब-सा गहना कपड़ा देकर उन्होंने अपनी एक मात्र सन्तान को (मुझ को) भी बिदा कर दिया, और अब वह जैसे निश्चिन्त होकर और भी मृत्यु की प्रतीक्षा करती हुई पूजा-पाठ में लग गईं। जीवन की बहू रात दिन गृहस्थी के कामों मे व्यस्त रह कर, अम्माँ की सेवा में जुटी रहती। उसके सामने भी एक प्रश्न था—जुगल की नौकरी और उसका विवाह। वह रात दिन इन दो कार्यों की कामना में अनेक देवी देवताओं को मनाती रहती थी। नगरकोट की जात से लेकर, बेलौन की देवी पर सोने का छत्र तक चढ़ाने का वचन भर चुकी थी। रोज सबेरे ही चार बजे उठ कर वह पीपल पर जल चढ़ाती थी, और शिव का दीपक जलाना तो आँधी-पानी में भी नहीं छूटता

था। हनुमान का प्रसाद बाँटना और देवी की अग्यारी करना उसका नित्य नियम था। रोज सूरज नारायण की कथा गुनगुनाने के बाद ही वह मुँह में अन्न का दाना डालती थी, और शायद इन्हीं सब के प्रभाव से जुगल अच्छे नम्बरों से पास होता गया, वैसे वह बड़ा परिश्रमी भी था ही। अम्मा के स्वास्थ्य में कोई परिवर्तन नहीं हुआ, मुझे जाना ही पड़ा। स्नेहहीन दीपक की शुष्क बत्ती सिलग-सिलग कर बुझने ही वाली हो चली थी। कई महीने से उन लोगों ने मेरे बुलाने की आफत उठा रक्खी थी। एक दिन प्रातःकाल ही वहाँ तार पहुँचा—मुझे एक ही सप्ताह वहाँ गए हुआ था कि—"छोटी बहू का स्वर्गवास हो गया।" मैं धक से रह गई. अभी तो मैं आई हूँ—यह क्या हो गया? आज उस घर से ही क्या, उस नगर और प्रान्त से भी जैसे मेरा सम्बन्ध समाप्त हो गया। यही सब तो एक दिन होना बाकी था; बस, वह भी हो गया। मुझे सहसा जुगल और उसकी माँ की भी याद हो आई, उन्हीं के भरोसे पर तो मुझे थोड़ा आश्वासन था—अन्तिम समय में अम्मा के निकट न होने का दुःख—जैसे मेरा जीवन साथी ही बन गया है। न जाने क्या कहती क्या करती, कितना चाहा कि वहीं रहूँ। पर यह लोग माने ही नहीं। केवल एक मास के लिए आई थी—क्या पता था कि सदा के लिए ही जा रही हूँ इन्हें छोड़ कर ...। मुझे जुगल के ऊपर भी कम दुःख न था—उसने ऐसी हालत की भी खबर नहीं दी। मेरा मन उड़ने-सा लगा—वह सब मुझे धैर्य देने का यत्न करने लगे, और कोई करता भी क्या? अब तो केवल

अन्तिम प्रथा पूरी करनी थी—केवल एक बार दिन भर के लिए वहाँ हो आने भर की! मेरा मन नहीं चाहता था कि उस नितान्त उजड़े हुए घर को जाकर देखूँ—पर, जाना ही पड़ा। और, उसी दिन शाम की गाड़ी से हम दोनों चल पड़े। घर आकर देखा तो जैसे विवाह का सा ठाठ हो रहा था—दूर-दूर के रिश्तेदारों से लेकर राधे और ताईजी तक सब बड़े व्यस्त थे। मेहमानों का ओर-छोर नहीं। उसी पुराने मकान में मुझे उतारा गया, जहाँ से एक दिन हम निर्वासित हुए थे। जुगल और उसकी माँ का पता भी नहीं कि वह कहाँ चले गए! मेरा जी घबराने-सा लगा। वहाँ अपना कोई नहीं दीख रहा था। महरी से मालूम हुआ कि जुगल और उसकी माँ को उस घर से उसी दिन निकाल दिया गया—और, अब वह उस मकान में चले गए हैं, जो उन्हें मेरी माँ ने दो हजार में ६ दिन पहिले ही खरीदवा दिया था। मैं सोचती ही रह गई। अम्मा मेरी कितनी कर्त्तव्यनिष्ठा थीं। राधे ने ही क्रियाकर्म किया था। मैं दूर खड़ी सब देखती और सोचती ही रह गई—"यह सब सत्य है या सपना ?"

— ४ —

"आज शाम को डी० एस० पी० के यहाँ दावत है। तुम्हारा भी निमन्त्रण है।" उन्होंने टाई बाँधते हुए कहा।

"मैं ......? मेरा भी निमन्त्रण है ? पर आप तो जानते ही हैं कि मुझे कहीं भी जाना-आना नहीं भाता, और दावत क्या, मेरे साथ तो अदावत ही हो जाती है। मुझसे किसी के भी यहाँ

नहीं खाया जाता। मैं नहीं जाऊँगी ...।" मैंने आग्रह पूर्वक उनसे कहा।

यह बहुत आग्रह करने लगे थे—क्या हर्ज है. चलो चलना। मुझे तो खुद भी यह रोज-रोज की दावतें खाना पसन्द नहीं है। परन्तु डाक्टर का काम ही ऐसा है कि सभी से वास्ता पड़ता रहता है। इन्होंने अपनी माँ की आँखें बनवाई थीं, तभी से अधिक दोस्ती हो गई। वैसे क्लब में भी परिचय तो था ही....। बस जगह-जगह की बदली में यही सब तो झंझट है—दावत, फोटो, खैर जल्दी ही लौट आयेंगे। "मुझे पुरुषों के सामने खाते और बैठते बड़ा संकोच लगता है, दम घुटता सा ही रहता है—मुझे मत ले चलिए....." मैंने कहा। "नहीं. चलो. पुरुषों में नहीं, तुम अन्दर स्त्रियों में चली जाना!" वह नहीं माने और मुझे जाना ही पड़ा, मैंने भी सोच लिया कि रविवार तक तो यहाँ से चले ही जाना है, अब तो शायद यह आखिरी दावत होगी। बहुत हठ कर रहे हैं—तो जाना ही है। और जल्दी से तय्यार होकर कार में जा बैठी। उनके घर जाकर देखा तो बड़ी-बड़ी तय्यारियाँ हो रही थीं। एक ओर साग सब्जी बन रही थी—तो दूसरी ओर हलवाई बैठा नमकीन और मिठाइयाँ बना रहा था। नई-नई प्लेटों की सफाइयाँ हो रही थीं—तो कहीं बर्फ ही जमाया जा रहा था। आँगन में खड़े होकर मैंने चारों ओर दृष्टि डाली तो देखा कि रसोई-गृह में एक वृद्धा बैठी पकौड़ियाँ बना रही है। पास ही इकहरे बदन की एक लड़की खड़ी हुई उन्हें कोई आदेश-सा दे रही है। विलायती कट की काली ब्लाउज

और भारी बौर्डर की बसन्ती साड़ी उसके सुन्दर अङ्ग को और भी सुन्दर बनाए है। दो चार आभूषण भी पहने हैं, पर सब कीमती। सिर खुला हुआ है और जूड़े में एक बड़ा सा गुलाब का फूल सुन्दर लग रहा है। मैंने अनुमान किया कि यही गृह-स्वामिनी होगी। फिर मैंने एक बार अपने बारे में सोचा तो गढ़ी-सी जा रही थी। इनके साथ इस सादगी का क्या मेल? परन्तु अब क्या, अब तो आ ही गई। वृद्धा एक मैली-सी धोती पहने चश्मा लगाए जल्दी-जल्दी कढ़ाई में पकौड़ियाँ छोड़ रही थी। एक नौकर बैठा दही बिलो रहा था। मुझे शायद सब से पहिले उसी ने देखा—धीरे से बोला—"देखिए सरकार! वह कौन आई हैं?" जैसे ही गृह-स्वामिनी वहाँ से निकलीं, वैसे ही मेरा परिचय देते हुए डी० एस० पी० साहब आकर कहने लगे—"इन्हें अन्दर ड्राइङ्ग रूम में बैठाओ, वहाँ न जाने क्या कर रही हो, यह यहाँ खड़ी हैं।"

साधारण शिष्टाचार के उपरान्त उन्होंने मुझे एक सजे सजाये कमरे में लेजा कर बैठा दिया। वहाँ मैंने गृहस्वामिनी की चतुराई का तो कोई भी नमूना नहीं देखा—हाँ कमरा सुन्दर आधुनिक ढङ्ग से सजाया गया था। मैं दीवार पर लगे भाव-पूर्ण चित्रों को देखने लगी। गृहिणी चुपचाप बैठी रही। हम दोनों के अतिरिक्त और कोई स्त्री वहाँ न थी। डी०एस०पी० साहब कई एक 'त्रैगों' को साथ लिए खाने की तैयारी में व्यस्त थे। मुझे बुरा लगा—मेरी वजह से यह यहाँ बंधी बैठी हैं—इसीलिए तो मैं

नहीं आ रही थी। बाकी स्त्रियाँ बाहर बैठी थीं। शायद वह भी मुझे खाकर पछता रहे होंगे। यह सोच कर तो मुझे बहुत ही बुरा लग रहा था, अपना आना। आखिर मैंने ही मौन भंग किया। गृहिणी से कहा—'आप जाइये, मैं तब तक यह 'एल-बम' देखती हूँ—वह बिचारे अकेले ही सब करा रहे हैं……।' श्रीमतीजी एक दो बार नहीं-नहीं कर के चली गईं, और मैं जवाहरलालजी का 'एलबम' उठा कर देखने लगी! साथ ही मन प्रसन्न हुआ यह सोच कर कि कदाचित गृहस्वामी राष्ट्रीय विचारों के हों। आधे घंटे के बाद खाने पर चलने के लिए बुलाने आईं वह। मैंने बड़े आग्रह से करबद्ध हो कर उनसे कहा—क्षमा कीजिए। मैं इसी वायदे पर आई हूँ कि बाहर बैठ-कर नहीं खाऊंगी। आप जाइये, मुझे तो कोई नौकर ही खिला देगा। मैं रसोई घर में ही खालूंगी—आपकी महाराजिन खिला देंगी।"

वह जैसे बड़े असमंजस में पड़ गई। बोली—"तो फिर मैं भी यहीं खा लूंगी……।" मैंने कहा—"नहीं, यदि आप ऐसा करेंगी तो मैं वैसे ही चली जाऊंगी। जब मैं यहाँ तक आ ही गई हूं—तो आप चाहे रहें या न रहें, खाना खाकर ही जाऊंगी।" डी० एस० पी० साहब ने भी बड़ा आग्रह किया कि या तो मैं बाहर चलूं—या फिर श्रीमतीजी अन्दर रहें। परन्तु गृहस्वामिनी की समझ में मेरी बात आ गई, और वह 'महाराजिन आपके पास रहेंगी', कह कर बाहर चली गईं। एक बड़े से पटरे पर शीतल पाटी बिछी थी उसी पर बराबर

वाले कमरे में लेजा कर वृद्धा ने मुझे बैठा दिया, और स्वयं रसोई घर मे खाना लेने चली गई। पर मेरा जी नहीं माना। मैं उस वृद्धा के हाथ पैरों और मुंह की झुर्रियाँ देख कर यह सहन न कर सकी कि वह बीस चक्कर लगा कर मुझे यहाँ बैठी-बैठी को खाना खिलायें। रसोई की चौखट पर खड़े होकर मैंने कहा—"मैं तो यहीं बैठ कर खाऊँगी, आप इतनी तकलीफ न उठाएँ।" वृद्धा ने जैसे ही थाली परोसते-परोसते मेरी ओर मुंह उठा कर देखा—वैसे ही वह मुंह उठाए देखती ही रह गई। मैं भी कुछ आश्चर्य से उन्हें देखती ही रही। सहसा वृद्धा के मुंह से एक हल्की सी चीख निकली; मैंने स्पष्ट रूप से उसके मुंह से अपना नाम सुना।' और, तब वह कुछ बेहोश सी हो चली। मैंने उसे संभालते हुए कहा—"कौन? जी···व···न की ··ओ मिसरानी जी! ··मुझे डर लग रहा था कि यह पराया घर है, कोई देखले तो···? और पास ही रक्खी बाल्टी में से पानी लेकर मैंने उसका मुंह धोया। थोड़ी सावधान होकर वह वहीं जमीन पर बैठ गई। मैं भी पास ही पटड़ा-पड़ा था उस पर बैठ गई। अब मैंने उसे भले प्रकार देखा—वह धोती जो वह पहने थी केवल मैली ही न थी, बल्कि कई जगह से इतनी फट भी रही थी कि अङ्ग भी दीखता था। हाथों में न अब चाँदी की चूड़ियाँ थीं और न सोने की ही, एक-एक पीतल की चूड़ी ही शेष थी। चश्मे में से—आँखे बिगड़ने पर भी वात्सल्य वैसा ही चमक रहा था, उसने मुझे छाती से लगा लिया—मुझे ऐसा लगा, जैसे मेरी अम्मा ही लौट आई। पर···पर क्या इस वेष

में ? ऐसी तो यह कभी भी नहीं रही। आज से पन्द्रह वर्ष पहले की एक-एक घटना चल-चित्रों के समान मेरी आँखों के सामने घूमने लगी। मुझे भी चक्कर-सा आने लगा। बड़े साहस से मैंने उससे पूछा—'तुम्हारी यह दशा हो गई, और मुझे एक बार लिखा भी नहीं, मैंने बहुत बार जुगल को याद किया—पर कुछ पता ही न लगा, उनसे अधिक इस डर से नहीं कहा कि न जाने क्या समझे ? हाय ! युग बीत गए। उसे क्या हो गया था ? एक खत किसी से लिखवा कर ही डलवा देतीं, पर तुम्हें पता कौन बतलाता ...?' मेरी छाती फटी जा रही थी। कहने को बहुत सी बातें थीं और समय बराबर भागता जा रहा था। कुछ भी समझ में नहीं आ रहा था कि क्या कहूँ और क्या करूँ ? वह भी अपनी फूटी हुई आँखों से पानी बहा रही थी। मैंने उसका हाथ थाम कर अपने दोनों हाथों में लेकर कहा—'अब मैं तुम्हें यहाँ नहीं रहने दूँगी, तुमने किस राक्षस के यहाँ नौकरी की है—जो तन ढँकने को कपड़ा भी नहीं देते. खुद तो ऐसी बनी ठनी दीख रही थी कि मुझे भी शर्म आने लगी—और ....और नौकरों का यह हाल ? बताओ कौन हैं यह लोग, तुम्हें कहाँ से मिले ?' वह जैसे गिरी-सी जा रही थी. भरसक बल से उसने अपने दोनों हाथों को सिर पर दे मारा—'यह जुगल का ही घर है बेटी ! मैंने उसी की नौकरी कर रक्खी है, चूल्हा फूँकते-फूँकते अन्धी हो गई थी, अब फिर यहाँ के डाक्टर से आँखें बनवाई हैं, डाक्टर से मैंने हाथ जोड़ कर कहा था—'बेटा ! मेरी आँखें अच्छी मत करो और फोड़ दो या जहर

देकर मार ही दो, तुम्हारा बड़ा पुन्न होगा, पर उसे भी दया न आई। वह बिचारा क्या जाने ?' वह कहती ही गई। और मैं सोचने लगी—हैं ! यह जुगल का घर है। यही जुगल की मां है, क्या इसीलिये लोग रोते हैं कि हमारे एक लड़का होता ? क्या यह सुखी है ? क्या अम्मा आज स्वर्ग में भी सुखी होंगी ? और मैं ? मैं क्या अब भी सोचूंगी कि एक अपना भाई होता ......? ओह........यह वही जुगल है।'

भगवंती

— १ —

मै थाली पर जाकर बैठी ही थी—कि बाहर किसी ने पूछा—

'बीबीजी कहाँ हैं.... ?'

रामा नल पर बैठा कपड़े धो रहा था। यहाँ भी उसने अपने लड़कपन का परिचय देते हुए कहा—'क्यों....? क्या लेगी बीबी जी से, चल यहाँ से तुझे पता नहीं है क्या ? अब और भी आधा राशन कर दिया है सरकार ने। भीख माँगना छोड़ो, हमीं भूखे मरेंगे—तुम्हें कहाँ से दें....?' और फिर लगा जोर जोर से कपड़े छतने....रसोई में बैठा महाराज भी चुप न रह सका, बोला 'बाहर करदे रे, न जाने कौन है, वैसे ही घर घर चोरियाँ हो रही हैं रात दिन।' मेरा जी घुटा सा जारहा था 'कैसा शोर मचाया है, कमबख्तों ने।' अभी खाना शुरू न कर पाई थी—वैसे ही उठ कर देखा आँगन में एक स्त्री खड़ी है, और उसकी टाँगों में मुँह छिपाए, ३-४ वर्ष का बालक चिपका खड़ा है। मैंने संकेत से उसे अपनी ओर बुला कर कहा—'क्या चाहती हो, कौन हो ? कहाँ से आई हो ...?'

रामा ने फिर बीच ही में कुछ कहना चाहा। उसे डाँटते हुए मैंने फिर उस स्त्री से कहा—'बोलो, क्या चाहती हो ?'

अब की जैसे वह कुछ कहने की चेष्टा करती हुई, मेरे सामने सिर झुका कर खड़ी हो गई। लड़का और भी उससे चिपक गया।

वह बोली—'नौकरी के लिए भेजा था। आपकी भंगन ने, कहती थी. वहाँ चला जा, रक्खें तो····।'

'तुम्हें वह जानती है। क्या ?' मैंने उससे पूछा—

'हाँ, मैं जहाँ पहिले नौकर थी। वह भी वहीं काम करती है, अब नौकरी छूट गई मेरी·· ।'

मैंने कहा—'तो फिर कहाँ रहती हो ? और छूट कैसे गई नौकरी ?'

'उन डिप्टी साहब की बदली हो गई, मैंने उनके साथ जाना ठीक न समझा। अब उनकी मिसरानी के पास ही रह रही हूँ।' उसकी आँखें पृथ्वी में गढ़ी-सी जा रहीं थीं, और बच्चा और भी उसकी धोती मे मुँह छिपाये लिपटा जा रहा था। मैंने रामा से कहा—'चलरे, इन दोनों को खाना खिलादे पहिले, तब कपड़े धोना।' फिर उससे कहा मैंने—'तुम इसे अपना घर समझ कर रहो। अब पहिले खालो, तब बातें करेंगे।' और एक धोती जम्फर उसके सामने डाल कर उसके बच्चे को भी मुन्ने के दो कपड़े दे दिये। रामा ने चुपचाप उसे छत पर नल बता दिया। वह कपड़े बदलने चली गई, और मैं फिर खाने पर आ बैठी।

इस क्रिया से निवृत्त हो कर मैं बाहर आई, देखा—वह लोटा भर पानी और पान लिए सामने ही खड़ी है। धुली धुलाई साफ धोती में जैसे उसका रूप और भी निखर आया। मैंने एक बार

सिर से पैर तक उसे देखा। उलझे हुए बालों की काली लटें उसके माथे पर पड़ी थीं, गेहुँआ रँग, नाक नकशा निर्दोष और शरीर की गठन आकर्षक दीख रही थी। नाक में बड़ी सी लौंग कानों में सोने की बालियों के अलावा गले में हँसली और हाथ पैरों में चाँदी के कड़े थे। रामा के ऊपर मुझे मन ही मन बड़ा क्रोध आया। दुष्ट को यह भी न दीखा कि सेर पक्की चाँदी और तोला भर सोना अङ्ग पर लादे, क्या कोई भीख माँगने निकलेगी और फिर मैंने उससे पूछा—'तुम्हारा नाम क्या है?'

बोली 'भगवती।'

'और इस बच्चे का।'

'भूपाल।'

'सुसराल, पीहर में कोई नहीं है क्या?' मैंने साहस करके उससे बूझा।

'सब थे, पर अब तो कोई नहीं है बीबी जी।'

'और जाति क्या है?'

'जाट हूँ। वह जैसे गढ़ी-सी जा रही थी जमीन में।

मैंने कहा—कोई हर्ज नहीं जाओ काम करो. खाना खालिया?' वह चुप थी, महाराज ने कहा—'अभी नहीं खाया।'

मैंने उससे हठ करते हुए कहा—'पहिले खालो, तब कुछ करना। हाँ क्या क्या काम कर सकोगी तुम?'

बोली—'जो भी आप कहेंगीं।'

मुझे जैसे कुछ भी कहने को शेष नहीं छोड़ा उसने। और फिर जूठे बर्तन उठाने चली गई। भूपाल जीने के किवाड़ों में

छिपा खड़ा था।

मैंने उसे पुकारा—'भूपाल ! आ इधर आ।'

वह निमाना सा आकर खड़ा हो गया अपनी माँ की तरह ही आँखें जमीन में गढ़ाए।

मैंने उसके सिर पर हाथ फेरा और पूछा—'लड्डू खायेगा ?'

और फिर एक तिलका लड्डू उसे थमाते हुए मैंने भगवंती से कहा—"जाओ इसे भी लेजाओ, खाना खाकर निबटो।

भगवंती का हृदय मानो इस थोड़ी सी सहानुभूति के भार को भी न सह सका और उसकी झुकी हुई आँखों से दो बूंद आँसू ढलक पड़े। मेरा जी भी भर आया 'भगवान किसी को अनाथ न करें।'

— २ —

भगवन्ती सचमुच ही अपने घर के समान ही काम करने में जुट गई, दूसरे नौकरों ने भी अपना काम उसी के माथे डालना शुरू कर दिया पर भगवन्ती को जैसे इन सब बातों को सोचने समझने का अवकाश ही न था। वह जैसे मन्त्रवत्, जो सामने आयेगा वही करेगी, कोई काम भी ऐसा नहीं होगा जिसे वह न कर सके। प्रातः काल से रात्रि के १० बजे तक वह केवल काम की ही बात जैसे सोचती रहती है अपना एक क्षण भी किसी दूसरी बात की ओर नहीं ले जाना चाहती, खाना बनाने से लेकर बर्तन माँजना और कपड़े धोने के अलावा झाड़ तक लगाने में वह दूसरे नौकरों का हाथ बँटाती रहती है। पर बिल्कुल चुप और खोई हुई सी रहती है वह, मानो उसे न कुछ कहना है किसी

से, और न कुछ सुनना ही है। मुझे उसके इस स्वभाव से कभी-कभी बड़ा कष्ट होने लगा और दिन दिन उसकी गति-विधी मेरे विचार धारा का केन्द्र बनती रही। मैं जितना उसे समझने की चेष्टा करती उतनी ही उलझन बढ़ती जाती थी।

एक दिन मैंने देखा कि 'पोस्टमैन' की आवाज पर भगवन्ती चाकू फेंक कर बाहर जा खड़ी हुई, वह तब आलू काट रही थी। मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ आज उसमें इस काम के प्रति भी इतनी लग्न देख कर, और कुछ दिन बाद इस आश्चर्य की सीमा न रही जब मैंने देखा कि भगवन्ती का यह नियम सा बन गया है कि दोनों समय डाक आने से कुछ मिनिट पहिले ही वह दरवाजे पर जाकर खड़ी हो जाती है, दूसरे को मौका ही नहीं देती कि डाक थामले। कई बार मनमें आया कि इस तत्परता का कारण उससे पूछने की चेष्टा करूं, परन्तु मेरे सङ्कोची स्वभाव ने ऐसा नहीं करने दिया और यह क्रम बराबर चलता ही रहा। वह अधिक तत्पर होती गई और मैं अधिक सतर्क।

भूपाल को वह सदा झिड़कती सी रहती और किसी न किसी बहाने उसे इसके लिये बाध्य करती रहती कि वह बाहर ही खेले, परन्तु वह अभागा मुन्ने के साथ साथ ही रहना और खेलना चाहता रहता था। एक दो बार मैंने उससे कहा—"रहने दो भगवन्ती, बच्चे तो बच्चों के साथ खेलते ही हैं।" वह मेरी बात का कोई उत्तर न दे चुप हो जाती, और फिर कभी कूड़ा फेंकने के बहाने और फिर कभी बछिया को पानी पिलाने के बहाने, छोटी-सी बाल्टी उसे थमा कर बाहर निकाल ही देती। वह भोला बालक

उस आज्ञा का पालन इस प्रकार करता जैसे कोई मिट्टी का पुतला हो। मेरा हृदय यह सब देख कर हा-हाकार कर उठता —"यह कैसी मा है? आज इसे अपने जीवन में इस बालक के अलावा और क्या देखना है? यह नन्हा सा आधार और इसकी लम्बी और सूनी जीवन यात्रा, थके हुए पन्थी के लिए तो तिनके का ही आधार बहुत है। और फिर मुझे अपना ध्यान हो आता। मैंने एक बालक को ही अपनी जीवन-यात्रा का आधार बना कर इतना जीवन काटा है और यह? यह क्यों इसे इतना दूर रखती है अपने से? इसी प्रकार के प्रश्न बार-बार मन में उठते और रह जाते, उससे कुछ भी कहने का साहस मुझे नहीं होता। परन्तु उसका वास्तविक परिचय पाने की उत्कण्ठा दिन प्रति दिन बढ़ती ही जाती थी।

उस दिन आकाश काली और गम्भीर घटा से अच्छादित हो रहा था, अनुमान ऐसा ही था कि आज शायद पानी पड़े। और अकाल की सम्भावना से आकुल प्राणों को कुछ आश्वासन मिले। मैंने जब भगवंती और भूपाल का नया 'राशन-कार्ड' बनवाया था तो निश्चय कर लिया था कि अब अवश्य ही एक समय पेट से पट्टी बाँध कर सोजाना पड़ेगा—क्योंकि यह तो ठीक ही था कि आधा पाव गेहूँ जो राशन का मिलेगा वह छान फटक कर एक छटाँक ही पल्ले पड़ेगा, अस्तु दोनों जून का हिसाब तो बार-बार जोड़ने पर भी गलत ही बैठता था, जबकि एक ही समय का गुजारा होना असम्भव था। किन्तु आज आँखें हरी सी हो गईं, और देखते न देखते रसोई के टीन पर

बूँदों की पट-पट ध्वनि भी सुनाई पड़ने लगी। मैं जल्दी से ऊपर गई और छत पर बिखरी हुई चीजों को सँगवाने में भगवंती की सहायता की इच्छा से उसे जगाना चाहा तो देखा कि वह भूपाल को अपनी छाती से लगाये, फफक-फफक कर रो रही है। मेरा हृदय बैठा जा रहा था—किन्तु उसके इस एकांत सुख में बाधा डालना मैंने उचित न समझा। मैंने स्पष्ट रूप से अनुभव किया—यही तो मां का हृदय है और वह ? वह होता है शायद पत्नि का छोह।" और फिर मैं नीचे उतर आई। कितनी ही रात उन दोनों प्राणियों के बारे में ही सोचते-सोचते बीत गई, 'भगवंती आखिर कौन है, इस बच्चे का पिता कब मरा, अथवा वह क्या करता था ?' आदि-आदि प्रश्न हृदय और मस्तिष्क में तूफान सा उठा रहे थे। पर इन सब बातों का उत्तर कौन दे, और किससे माँगू ? कल्पना से सत्य अधिक कठोर होता है, मैं आज यही सब सोचते-सोचते न जाने कब सो गई।

— ३ —

'पोस्टमैन ··· ··········?'

आवाज सुनते ही वह हाथों में निचोड़ते हुए तौलिए को खाट पर फेंक कर बाहर भाग गई, मुझे आज पहली बार उस पर क्रोध आया—'कितनी उतावली रहती है यह, इसके लिये ?' और तब चुपके से कमरे की खिड़की में से मैंने झाँक कर देखा, वह पोस्टमैन से बूझ रही थी, 'किसका खत है यह ?'

'बीबीजी का·······।' कहता हुआ पोस्टमैन चला गया।

सिर का आँचल थोड़ा और आगे को खींचकर उसने हाथ में पकड़े हुए लिफाफे को उलट-पलट कर देखा—और कहा—'एक खत भी आज तक नहीं डाला गया कब आयेगा, यह भी पता नहीं'' 'और फिर लिफाफा मेज पर लाकर डाल दिया।

मैंने उसे आवाज दी—'भगवन्ती! इधर आओ, कपड़े बाद में धोना।'

वह कुछ सहमी हुई सी मेरे सामने आकर खड़ी होगई, ठीक पहिले दिन की भाँति। मैंने अपने स्वर को भरसक संयत करते हुए कहा 'बैठ जाओ, आज तुम से कुछ बातें मालूम करनी है देखो, ठीक-ठीक और बिलकुल सच बतलाना, झूठ मत बोलना?'

उसने पहिली बार ही आज मेरी आँखों के सामने अपनी आँखें उठाई थीं, मैं कह नहीं सकती कि उनमें कितनी करुणा और व्यथा उमड़ रही थी। मुझ से अपने आँसू रोके न गए और मेरे साथ-साथ वह भी रो पड़ी।

मन को थोड़ा सावधान करके मैंने उसकी पीठ पर हाथ फेरा, मैं यह भूल गई कि यह मेरे घर में दासी के रूप में रहती है, मुझे ऐसा लगा, मानो यह ३०-३२ वर्ष की स्त्री मेरी छोटी बहिन के रूप में नन्हीं सी बालिका है, और मेरे बहुत ही निकट भी है। उसने मेरे पैर छूकर कहा—'झूँठ नहीं बोलूँगी।''

'अच्छा तो बताओ कि तुम कौन हो, कहाँ तुम्हारा घर है, और भूपाल का बाप है या नहीं, उसका क्या हुआ''''?' मैंने उससे पूछा।

उसने कहा—'यहाँ से थोड़ी दूर गाँव है बीबीजी ! मेरा बाप वहाँ का जिमींदार था और सुसर है दूसरे पास के ही गाँव का चौधरी। माँ बाप स्यानी को ही छोड़कर मर गए थे भावज रह गई, सो उसे मैं फूटी आँख भी नहीं सुहाई एक बड़ी बहन और थी वह मुझे अपने साथ ले गई और ब्याह कर दिया. तीन बरस बाद मुकलावा (गौना) करने की खबर आई, बहन ने सुसराल का सारा गहना रख लिया; और मुझे विदा कर दिया। बस सुसर ने उलटी फेर दी। फिर उन्होंने अपने बेटे का दूसरा ब्याह कर लिया और बहन ने मुझे अपने देवर के साथ रख दी, उसी का यह कमबख्त भूपाल है यह न होता तो अकेली जान का क्या था ?' कहते-कहते उसकी आँखे बरस पड़ीं और वह सिसक-सिसक कर रोने लगी। मैंने मन को मजबूत करके उससे फिर पूछा—'और फिर वह कहाँ गया ?'

'वह इसे दो महीने का छोड़कर लड़ाई पर चला गया था, मुझ से कह गया था खर्चा भेजता रहूँगा, घर ही रहना। पर घर में उसकी ब्याहता थी. दो लड़के भी हैं, थोड़े दिन तक तो खर्च भेजता रहा, फिर कुछ खबर ही नहीं ली। जाने क्या सोचा है उसने ? उसके घर वालों ने भी चैन नहीं लेने दिया, तभी मैं वहाँ से चली आई थी ···।'

मैंने पूछा—'तेरे पास चिट्ठी भी नहीं आई कोई····?'

बोली—'ना, बहुत दिन हो गए अब तो कोई भी चिट्ठी नहीं आई···' कितने दिन का रास्ता है बीबीजी ! वहाँ का····?'

मेरे पास उसकी इस बात का कोई जवाब नहीं था, मैंने उसे

बतलाया— अब तो लड़ाई खतम होगई भगवन्ती !'

उसने कहा—'हाँ, यह तो मैंने भी सुना है, हमारे गाँव के कई आदमी लौट भी आये है, पर वह उन सबसे दूर चला गया था, तनखा भी उसकी उन सबसे ज्यादा थी...., पर वह अब तक आया क्यों नहीं बीबीजी ! ऐसी कमाई से तो रूखी-सूखी ही खाकर रहना अच्छा था।'

मैंने आज उसे खूब खुल कर बातें करते सुना था, पूछा—'वह आजायेगा तो तू यहाँ से चली जायेगी भगवन्ती !'

वह एक दम शर्मा कर यह कहती हुई भाग गई—'क्या खबर, भूपाल तो कहता है यहीं रहेंगे, अब....?' और मैंने देखा, उसके दुबले-पतले चेहरे पर सहसा अरुणाई फैल गई। मैं वहीं बैठी-बैठी उससे सुनी हुई कहानी दोहराती हुई सोचने लगी—आशा का तन्तु क्षीण होते हुए भी कितना सुदृढ होता है।

वह कौन था ?

देवताओं की बात तो वे ही जानें, जिन्होंने कभी देवताओं को देखा हो; पर जब मनुष्य की दुर्बलताओं पर मनुष्य ही अट्टहास कर उठता है, तब पता नहीं कि वह देवताओं की श्रेणी में अपने को देखता है या मनुष्य से भी भिन्न किसी पंक्ति में पहुँच जाता है। इन सब बातों का मतलब मैं आज तक भी नहीं समझ पाई। उस समय तो खैर यह असम्भव ही था। खाने-खेलने और थोड़ा पढ़ने-लिखने के बाद सो जाने के अतिरिक्त कोई काम था ही नहीं। हाँ इतना अवश्य है कि चलचित्रों के समान वह सब घटना कभी-कभी स्मृति-पट पर अनायास ही अंकित हो जाती है।

झुनिया नाइन जब कभी हमारे घर आती, मेरी दादी से लेकर घर के दास-दासी तक उसे घृणा की दृष्टि से देखते और अम्मा की निगाह बचने पर अपशब्द कह कर उसका अपमान करने से भी नहीं चूकते थे। बड़ी अम्मा (दादी) को तो वह फूटी आँखों से भी नहीं सुहाती थी। जिस जमीन पर झुनियाँ पाँव रखती थी, जमीन का वह हिस्सा उनके लिये त्याज्य था।

झुनिया की जीवन का एक मात्र अवलम्ब थीं तो शायद मेरी माँ ही, क्योंकि उन्ही के दम से सम्भवतः वह हमारी ड्योढ़ी

पर पैर रखने का दुःसाहस कर डालती थी। घर में और था ही कौन? पुरुषों के साम्राज्य से वञ्चित हमारा घर, याद नहीं कब से, श्मशान बना हुआ था।

मेरे हृदय में तो उन दिनों कोई विशेष भावना थी नहीं, दूसरों के कटाक्ष से कभी कौतूहल हो उठता हो यह बात दूसरी है, किन्तु समझ में खाक भी नहीं आता था। जब कभी वह आती, अम्मा इतना कड़ा विरोध होते हुए भी उसे दुत्कारती न थी; अपितु भले प्रकार बोल लेती थीं और कुछ नए-पुराने कपड़े तथा कभी कुछ खाद्य सामग्री देकर उसे विदा कर देती थीं। वह था शायद नारी की स्वाभाविक शक्ति का सुधरा हुआ रूप जिसे सब बिगड़ी हुई दृष्टि से देख कर चुप रह जाते थे।

एक दिन झुनिया ने अम्मा से कहा—'बहू जी! कल गंगा-वासिन बन्ने जा रही हूँ। फिर कभी लौटूँगी या नहीं, यह तो भगवान ही जाने। कौन कह सकता है कि यह हमारी-तुम्हारी अन्तिम भेंट न हो, पर जो कुछ तुमने मेरे साथ किया है, वह क्या कल्प-कल्पांतर में भी भूल जाने योग्य है? किसी की सगी माँ भी ऐसी दया-माया नहीं दिखा सकती।' कहते-कहते उसकी आँखें भर आईं। अम्मा ने झुनिया को कुछ कपड़े और सीधा तथा पता नहीं और भी क्या-क्या चुपके से देकर कहा—'भगवान के ऊपर भरोसा रख कर भजन करना, बस····और क्या करूँ?'

वह जैसे कटने-सी लगी और फिर धीरे-धीरे सीढ़ियों से उतर गई।

जब बड़ी अम्मा अपनी लम्बी पूजा समाप्त कर के उठीं, तब उनकी तनी हुई भृकुटी देख कर अम्मा ने बस इतना ही कहा—'वह बड़ी गरीब है माँजी।'

(२)

कार्तिकी पूर्णिमा पर हर साल की भाँति हम सब स्नान करने गये। एक दिन महरी को साथ ले और मेरा हाथ पकड़ कर अम्मा गङ्गा के तट की ओर चलीं। साथ में बड़ी-सी पिटारी में धोती-तौलियों के अतिरिक्त और भी न जाने क्या-क्या भरा था। स्नान-ध्यान से निबट कर वह एक छोटी-सी कुटिया के द्वार पर ठिठक गईं, जिसका पता वही जाने कि इतने बड़े मेले वे कैसे लगा सकीं। उस समय मुझे शायद कुछ ज्ञान हो चला था, क्योंकि अम्मा की यह बात मुझे नहीं भाई—'कोई देखेगा तो क्या कहेगा?' यह भावना हृदय में उत्पन्न हुई, और मैं घबरा-सी उठी। गङ्गा के घाट पर एक ओर को चार बाँस और दो चटाई बाँध कर उसने एक कोठरी-सी बना रखी थी। एक कोने में साफ-सुथरा घड़ा जल से भरा रखा था। एक ओर कुछ कपड़े, चार छः बर्तन और दाल-आटे इत्यादि की पोटली पड़ी थीं, और सामने की ओर बालू की छोटी-सी चबूतरी पर ठाकुरजी की पीतल की प्रतिमा विराजमान थीं तथा उनके निकट जल से भरी घंटी और एक तश्तरी में थोड़े झरबेरी के कच्चे-पक्के बेर भरे थे। दीपक जल रहा था, जिससे मालूम होता था कि अभी आरती उतार कर बैठी है। झोंपड़ी के बाहर गमले में तुलसी का बिरवा खूब हरा-भरा लहरा रहा था। उससे थोड़ी

दूर पर जमीन में गढ़ा खोद कर बनाया गया था चूल्हा, उस पर दाल या खिचड़ी-जैसी कोई चीज चढ़ी थी और झुनिया गीले तिनकों को जोड़ कर आग जलाने में संलग्न थी।

अम्मा ने दो पग बढ़ कर ठाकुरजी के सामने धीरे से कुछ रख कर कहा—'ग्वाली कृष्ण की हो उपासिका हो. राधा की नहीं?'

'कौन ·· बहूजी? झुनिया के शरीर की थकित नाड़ियों में जैसे स्फूर्ति आ गई. कुशा का आसन, जिसके बन्द न जाने कब से टूट गये थे. बिछा कर बोली—'मैं तो आज कई दिन से सोच रही थी कि बहूजी आएँगी तो जरूर ···पर··· '

'बैठूँगी नहीं, बड़ी देर हो जायगी। माँजी पूजा से उठेंगी भगवान का भोग लगवाना है····अच्छा, मेरी बात का उत्तर नहीं दिया तुमने? अब की मेले में से एक राधारानी और ले लो····।'

'राधा? राधा तो आधा साझा बाँटेगी न बहूजी? मुझे साझे का व्यापार नहीं भाएगा। ·····' कह कर वह हँस पड़ी। फिर ठाकुरजी के सामने से थोड़े-से बेर उठा लाई और मुझे देकर बोली—'यह भोग के हैं बिट्टो. फेंक न देना···· ।'

मैंने एक बार अम्मा की ओर देखा, उनके चेहरे पर विषाद की छाया स्पष्ट थी। मैं बेर खाने लगी और मन ही मन सोचने लगी—'खट्टे बेर तो नमक के साथ अच्छे लगते हैं।'

डेरे पर लौटते समय मुझे ऐसा लग रहा था कि अम्मा-गंगा नहाने नहीं, बल्कि झुनिया से मिलने आई होंगी. किन्तु मन था खूब प्रसन्न।

डेरे पर लौट कर देखा, बड़ी अम्मा अपने ठाकुरजी के बहुत बड़े परिवार को कई प्रकार के व्यंजनों का भोग लगवा रही थीं और उनकी उंगलियाँ घूम रही थीं सहस्र दानों की माला पर तथा पुजारियों के हाथ में घूम रहा था बड़ा-सा घंटा। न जाने क्यों, मुझे सहसा ही झुनिया के ठाकुरजी की याद हो आई।

(३)

मेरी आयु के तेरह वर्ष पूरे होने को थे। अम्मा ने मेरे विवाह की तैयारी खूब जोर-शोर से करनी आरम्भ कर दी। मैं कुछ हर्ष और कुछ विषाद को लेकर उन दिनों को एक अनोखी उलझन में घसीट रही थी। "विवाह होगा, बहुत-सा गहना और कपड़ा तैयार हो रहा था, मगर ओह, अम्मा के बिना मैं एक दिन भी किसी के घर कैसे रहूँगी?" यह ख्याल आते ही मेरा हर्ष विषाद के रूप में बदल जाता।

दिन बिलकुल निकट आ गए किन्तु न जाने क्या सोचकर अम्मा ने इस अवसर पर झुनिया को नहीं बुलाया! यह प्रश्न बार-बार मेरे मन में उठने लगा। एक दिन रात को सब धन्धों से छुट्टी पाकर जब अम्मा मेरे पास आकर थकी हुई-सी पड़ गईं- तब उनके गले में बाँहें डालकर मैंने पूछा—"झुनिया क्या अब भी गंगाजी पर ही रहती है अम्मा? वह अब यहाँ कभी नहीं आवेगी?"

"सोचा तो था कि इस अवसर पर दो-चार दिन के लिए उसे बुलाऊँ, पर"'पर ठीक नहीं जँचता।" कहकर वे कुछ सोचने-सी लगीं।

मैंने फिर प्रश्न किया—"झुनिया कौन है अम्मा ? इसके क्या कोई भी नहीं है ? माँ भी नहीं ?"

"नहीं, कोई नहीं। इसकी माँ भी मर गई सब मर गए—जैसे किसी दिन तेरी माँ···भी····।"

मैंने झट उनके मुँह पर हाथ रख दिया—"ऐसे मत कहो अम्मा !" लेकिन आज जैसे यह सब लिखते हुए छाती फटी जाती है।

हठपूर्वक उनसे मैंने फिर कहा—"सच बताओ अम्मा ! झुनिया कौन है ?"

"यह सब सुनकर क्या करोगी ? अब सो जाओ।"

"नहीं, नींद आ ही नहीं रही—तुम बता दो बस।

"यह हमारी नाइन की बहन है। देहली में ही शादी हुई थी। थोड़े दिन बाद ही बिगड़ गई बेचारी पति के मरने पर, जो जिंदा थे वे भी मरे के बराबर ही हो गए। थोड़ी उम्र थी, रूप तो निगोड़ी का जैसे फटा ही पड़ता था, फिर·······फिर पता नहीं कि कहाँ-कहाँ धक्के खाकर तेरे फूफाजी के···पास रहने लगी, ठीक वैसे ही, जैसे कि घर की मालकिन रहती थीं। क्या मजाल थी जो कोई पैर का अँगूठा भी देख सकता। और अब····अब क्या ? अब तो न वह किसी की, न उसका कोई। जब से वह मरे, दो-दो दानों को मोहताज हो गई। पता नहीं, फिर कहाँ-कहाँ मारी-मारी फिरती. मुझ से यह सब नहीं देखा गया। आदमी-आदमी से घृणा करे, पर कौन कैसा है, यह सब सोचने की बुद्धि न रखे, यह कैसी बात ? दयाहीन मनुष्य नहीं

हो सकता। मैं इच्छा होते हुए भी उसे अपने घर में स्थान न दे सकी, थोड़ा-बहुत सहारा ......।" अम्मा ने चालू यन्त्र के समान एक साँस में यह सब कह डाला। मेरे लिए ये बातें समझ और सूझ से परे की वस्तु थीं। बोली—'झुनिया बुरी तो नहीं है न अम्मा? अच्छी ही तो है वह, क्यों?"

मेरी यह बात उन्हें अच्छी लगी या बुरी, यह तो मैं नहीं समझ सकी; किन्तु मेरी बात के उत्तर में जो उनकी हँसी थी, उसे मैं आज तक भी नहीं भूल सकी। सहसा मेरे मुँह से यह बात सुनकर वे जाग-सी उठीं। मैंने पूछा—"अब गङ्गाजी कब चलोगी अम्मा?"

'तेरे विवाह से निबटकर। लड़की की शादी करने के बाद गंगा नहाना जरूरी है न? तू क्यों वहाँ जाना चाहती है पगली!' उन्होंने शान्त भाव से कहा।

'कुछ नहीं, ऐसे ही........।' और फिर मैं चुप होकर सोने का प्रयत्न करने लगी।

(४)

विधि के विधान में कोई हस्तक्षेप करे, यह किसी के भी वश की बात नहीं। पल में क्या से क्या हो सकता है? यह मेरी समझ में ठीक उस समय आ गया था, जब कि आठ दिन वहाँ रहकर मैं अपने घर लौट आई। जब गई थी, विवाह की चहल-पहल से घर गूँज रहा था; अब लौटी तो देखा, घर में मातम छाया हुआ है। बड़ी अम्मा बीमार थी, हाथ-पैर भी नहीं हिला सकती थीं। सुना, डाक्टर ने फालिज बतलाया है।

किसी का कोई चारा नहीं। पूरे छः महीने तक वे खाट पर पड़ी रहीं। अम्मा रात-दिन एक करके उनकी सेवा में जुटी रहती थीं—न खाने की सुध, न नहाने की। दादी तो थीं बीमार, लेकिन अम्मा भली चगी नक गोड़ते-गोड़ते जैसे आधी रह गई थीं, फिर भी बड़ी अम्मा के माथे की शिकन न मिटा सकीं। उन्हें कुछ होश था या नहीं बेहोश भी कैसे कहा जाय, क्योंकि इस दशा में भी उनको बहुत सी बातों का ज्ञान था—कौन किसको क्या दे-ले रहा है, कौन क्या खा रहा है, तथा उनकी धरोहर के निकट तो इस समय किसी की परछाई नहीं पड़ रही इत्यादि बातें खाट पर पड़े-पड़े ही वे देख और समझ सकती थीं।

बाहर के लोग हाल देखने आते और कहते—'' हे भगवान! तुम्हारी लीला तुम्हीं जानो, जिसके जीवन के पचास वर्ष भजन-पूजन में ही बीते, उसको आज इतना कष्ट ?'' किन्तु समय आखिर निकल ही जाता है। अन्त सब का ही निश्चित है। एक दिन धरती लीप कर बड़ी अम्मा को नीचे लिटा दिया गया, मुँह में तुलसीदल और गंगाजल डालने के लिए अम्मा ने उनका मुँह खोला, पर उन्होंने मुँह फेर कर बहुत-सा थूक डाल दिया। थोड़ी देर बाद मैंने दूर से देखा कि लोग उन्हें बाँध कर ले जा रहे हैं। 'राम-राम सत्य' की ध्वनि से आस-पास का वायुमंडल गूँज उठा।

कई दिन तक पता नहीं क्या-क्या होता रहा, उसके पश्चात् अम्मा को कुछ होश आया, साँस लेने का अवकाश मिला, तब

मैंने एक दिन कहा—"अब गंगाजी कब चलोगी अम्मा! यह सब भी जो होना था, हो चुका....।"

"हाँ, एक-एक कर सभी समाप्त हो गए, बिट्टा! गंगाजी...? हाँ, गंगाजी अगली पूनों को चलेंगे..., झुनिया भी तो मर गई....।"

मैं जैसे आकाश से गिर पड़ी—"ऐं, झुनिया मर गई? कैसे मर गई अम्मा वह?"

"ऊँह, मरने के लिए क्या कोई खास दिन नियत है? जब समय आया चल दिये। पर कहते हैं कि बड़ी अच्छी मौत पाई। सुना था उस दिन एकादशी थी, गंगा-स्नान करके जो कुछ थोड़ी बहुत पूजा-सेवा करती थी उससे भी निबट ली, और चटाई बिछा कर पड़ गई, बस खतम। घाट वाले ने गंगा में लाश बहा दी—न कोई रोने वाला, न पीटने वाला। एक ये थीं, जिन्होंने छः महीने खाट गोड़ी; एक वह थी, जो चलते हाथ-पैरों पार लग गई। कौन पुण्यात्मा है और कौन पापी, यह तो भगवान जाने, पता नहीं कि वह कौन थी?"

कहते-कहते अम्मा की पलकें तर हो गईं। "तो क्या झुनिया उनकी स्नेह-पात्री भी थी, केवल कृपापात्री ही नहीं?" इसका उत्तर कौन दे? आज न झुनिया है और न अम्मा ही।

स्पेशल परमिट

आँगन में बैठी लज्जा—अपनी पुरानी और घिसी हुई, 'कैलिको मिल' की धोती में थेगली लगाने का यत्न कर रही थी, तभी उसकी दस वर्षीया ननद नीहार ने धोती की किनारी को छूकर कहा—'बड़ी अच्छी है....., अब की तीज पर मुझे भी ऐसी ही मँगा देना भाभी !'

बालिका की बात सुन कर, युवती का दम घुटने-सा लगा—'आखिर आज इस बात का वह क्या उत्तर दे ? जब कि बाजार में ऐसी धोती तो क्या, एक बालिस्त कपड़ा किसी प्रकार का भी नहीं मिल रहा है। लोगों को कफन का भी टोटा है; और अब तीज के रह गये केवल १५ दिन, ऐसी दुर्दशा तो कभी देखी न सुनी; हाथ में पैसा है न बाजार में चीज. जिन्दगी के दिन काटने भारी हो रहे हैं। पेट का गढ़ा पाटने के लिये एजेंसी का नपा तुला अनाज, और तन ढकने को बड़ी हाय-हाय करके चार-छः महीने में मिल गई पाँच गज कोरी मारकीन, क्या कोई खा ले, और क्या पहन ले? पिछले दिनों सुना था कि जर्मन हार गया है, और हमारी सरकार जीत गई है। सोचा था कि अब दिन फिरेंगे, लेकिन सब बेकार......, फिर सुना—शिमले में वायसराय ने स्वराज्य देने के लिये सब को बुलाया है। वह

भी बेकार, सब खाली हाथ लौट आये। जिन्ना को कुछ मिला हो तो अपनी वह जानें, सो उनके मिलने में किसी का साझा नहीं। रात-दिन उन्हीं की जात बिरादरी की नजीरन और हमीदा घर-घर पीसना कूटना करती फिरती हैं, सुत्तन में सैकड़ों पेबन्द लगाये, और दो-दो दानों को लाचार, पहले उन्हीं को कुछ कर लें। उंह भाड़ में जाय, जो होना होगा, हो जायगा।' यही सब सोचते-सोचते युवती का माथा दुखने-सा लगा। उसने धोती एक ओर को समेट कर रख दी। बालिका ने फिर अपनी बात को दोहराया—'भाभी! बोलती क्यों नहीं, कब मँगाओगी ऐसी धोती···?'

'जरूर मंगाऊंगी, जब मिलेगी तभी···।'

छज्जे पर बैठी मकान मालिकिन बोल उठी—'न नौ मन तेल होगा, न राधा नाचेगी' पहले तो ऐसी धोती पहनने के लिये खूब मल-मल कर मुंह धोले नीहार! अब तो सपने में भी नहीं दीखने की, और अगर कभी मिली भी, तो भाभी पहले अपने लिये खरीदेगी या तेरे लिये?'

युवती के हृदय में पड़ोसिन ने अनजाने ही तीर मारा हो, सो बात नहीं, वह प्रायः उसे छेड़ती रहती है। किन्तु आज जैसे लज्जा का हृदय तिल-मिला उठा, बोली—'ऐसी बात न कहो चाची जी! इन लोगों से आपके सामने इसी घर में नाता जुड़ा है, यहीं सास-ससुर भी खतम हो गये, और···और राजा से हो गये भिखारी। नीहार तब दो ही वर्ष की तो थी, सभी लोग तो जानते हैं, और देखते हैं कि आज वह दसवें वर्ष में पैर रख

रही है, मुझे नीहार से ज्यादा और क्या देखना है ? पर लाचारी का विचार ही क्या ?'

कहते कहते उसका गला भर आया। वह वहाँ से उठ कर अन्दर जा बैठी। पीछे-पीछे नीहार भी सहमी हुई-सी उनके पास जा बैठी। आँगन में खटोले पर अधसिली धोती, और सुई-तागा यों ही पड़ा रहा।

गृहस्वामिनी ने कण्ठ-स्वर को थोड़ा और तेज करते हुए कहा—'जरा सी बात में आपे से बाहर ही हो गई, छींकते ही नाक काटती है। लो, ऐसा मिजाज तो उसे ही दिखाना, बड़े लाट साहब हैं वह, जिनके ऊपर इतना दिमाग है। है तो एक डिप्टी का मुंशी ही, या नवाब हो गया ? छः रुपल्ली में समझते हैं कि मकान खरीद ही बैठे हैं। मैं तो कह दूँगी कि भइया कहीं और ठिकाना देखो...., लो बताओ....ननद के सिवा और कोई बाल-बच्चा नहीं है तो हम क्या करें ? यह तो भगवान की माया है, किसी को सात-सात देते हैं, किसी को बाँझ कर के ही छोड़ देते हैं...।' वह लम्बे-लम्बे विशेषणों के साथ अपनी बात को बढ़ाती रहीं, और लज्जा चुपचाप खून का घूंट पिये सुनती रही। नीहार ने युवती के गले में अपनी दोनों भुजाओं को लपेट कर कहा—'अब इस घर में नहीं रहेंगे भाभी ! किसी और जगह चलो, भाभी ! धोती नहीं, तुम मुझे 'सलवार' सी देना, हमारे स्कूल में कई लड़कियाँ 'सलवार' पहनती हैं, बड़ी अच्छी लगती हैं।'

बालिका की बात सुन कर उसका मन सिहर उठा। ननद को

छाती से लगा कर लज्जा ने अपनी बड़ी-बड़ी आँखों से कुछ मोती ढुलका दिये, नीहार भी उस स्थान से हटना नहीं चाहती। व्यथा और अभाव हमारे हृदय की ऐसी निधि हैं, जिन्हें वैभव से नहीं आँका जा सकता, और जो बिना माँगे ही मिल जाती है।

खिचड़ी का भगौना चूल्हे से उतार कर नीचे पटकते हुए उसने सोचा—'आज चार दिन से बराबर खिचड़ी खा रहे हैं, वह भी उबली हुई, घी के तो अब दर्शन भी दुर्लभ हो गये···, रोजाना एजेन्सी पर फेरा लगा आते हैं····, गेहूँ तो जाने कब आयेंगे ? ऐसी जिन्दगी से तो मर जाना भला है। न खाने को अनाज के दो दाने जुटते हैं, न पहनने को चीथड़ा।····तीज-त्यौहार सब सूने ही निकल जाते हैं। न जाने कब पाँच गज मारकीन मिली थी, सो दो पाजामों में ही खतम हो गयी। पुराने पाजामे काट-काट कर जैसे-तैसे नीहार की दो इजारें बना दी थीं, वह भी फट चलीं। कोई किसी के दुख-सुख को सुनने वाला नहीं। जीवन पशुवत बीता जा रहा है, इस मोहल्ले में तो कोई ऐसा भी नहीं, जो अपनी लड़की को उसके पास पढ़ने ही भेज दिया करे। मिडिल पास किये बैठी है वह, पर व्यर्थ।'

सोचते-सोचते लज्जा को अपने बचपन की सभी बातें याद हो आई—'पिता उसके तहसीलदार थे, ससुर थे वकील, घर में किस बात की कमी थी, पर भगवान की लीला···; आज जो रहने का मकान है, वह भी तो बीरान हो गया। जो किरायेदार थे, वे मकान मालिक बन बैठे। पर इन्हीं की अकल का टोटा है।

न इनके साझे में लकड़ी के ठेके का व्यापार करते, न कर्जदार बनते……। बैठने का ठिकाना भी हाथ से निकल गया, अब इस घर को छोड़ते भी छाती फटती है, और जाएँ भी तो कहाँ जाएं, पेशकारी और ईमानदारी, कैसे पूर पड़े ? कुल मिलाकर ४०) मिलते हैं। ६) में और कहाँ मकान मिल जायेगा। आजकल इतना भी अखरता है, बाकी खर्च ३४) में कैसे चलाऊं ?

एक हैं जो झूंठ-सच मिलाकर भिखारी से राजा बन गये, लड़ाई की कमाई में चांदी बन गयी और एक हम हैं जो पेट पाटने के भी लाले पड़े रहते हैं। एजेन्सी का नपा तुला अनाज खाते-खाते शरीर पालने के बजाय, सूख कर कांटा हो गया……।' लज्जा का हृदय व्यथा से जलने-सा लगा। चूल्हे के पास से उठ कर उसने आलमारी में से 'कोकोजाम' का डिब्बा उतार कर, जैसे-तैसे एक चम्मच 'घी' खुरच कर खिचड़ी में डाल दिया, साथ ही उसकी आँखों से दो बूंद पानी भी ढुलक कर खिचड़ी में जा पड़ा।

'खाना बन गया क्या ?' मनोरंजन ने चौखट पर खड़े होकर लज्जा से पूछा।

'हाँ'

'बड़ी अनमनी-सी दीख रही हो……? क्यों क्या बात है ?' पति ने उसके मुख पर दृष्टि गड़ा कर पूछा।

'नहीं तो……।' सहानुभूति के एक ही झोंके से युवती के हृदय का बांध टूट गया। उसने जल्दी-जल्दी आँचल के छोर से आँखें पोंछ डालीं। मनोरंजन ने समझा……वह न जाने कब से रो रही

है। नीहार स्कूल गई है, अकेले में मन के छाले फोड़ने का अच्छा अवसर मिला होगा····। और भी देखा, हाथों की चूड़ियां कोहनी तक जा पहुँची है। हड्डियों का ढाँचा रह गया है। उससे देखा न गया। खटोले पर जा बैठा और सोचने लगा—उसे वह दिन याद आया, जब अंग्रेजी बाजे के साथ लज्जा को डोले से उसने उतारा था। सोने के आभूषणों से लदी हुई थी। आज पैर में दो घिसे हुए चाँदी के बिछुओं के अलावा कुछ नहीं। मां-बाप भग्यवान थे, वह कितना अभागा है कि कुछ भी सहेज कर न रख सका। कुछ को बेच कर खा गया और कुछ को बेच-बेचा कर कपड़े और जूते खरीद लाया, बाकी को कर्जे में झोंक दिया। कितना चाहा कि यह नौकरी छोड़ कर लड़ाई पर चला जाये। बी॰ ए॰ फेल सही, पर वहाँ सौ रुपये तो मिल ही जाते, पर यह मानी ही नहीं। यह नर्क भोगना और जीवित रहना, रो-रो कर घर भर दिया—'मेरा यहाँ कौन है, नीहार को कौन देखेगा ? आधी खाकर ही गुजर कर लेंगे····।' आदि-आदि।

'है भी ठीक। इसका कौन था, भाई सब मजे में खा कमा रहे हैं, कोई कभी एक खत डाल कर मरने-जीने की भी खबर नहीं लेता।' सोचते-सोचते मनोरंजन की आंखों के आगे अन्धेरा-सा छाने लगा। वह आँखों पर हाथ रख कर खटोले पर वैसे ही पड़ गया। एक बार उसने पास ही पड़ी चीथड़ी हुई धोती, और सुई-तागे की ओर भी देखा, अनायास ही उसके कलेजे से एक आह निकल पड़ी, उसने बरबस करवट बदल ली।

थाली में आम के अचार की एक फांक, और आधा पापड़····

रख कर उसने खिचड़ी परोस दी, 'आओ खालो।' कह कर वह चौखट पर हाथ धरे खड़ी रही—

'क्यों, जी अच्छा नहीं है क्या आज ? ठण्डी खिचड़ी तो और भी न खाई जायेगी।' कह कर युवती पति के पास आकर खड़ी हो गई। आज बहुत दिनों के बाद लज्जा ने पति को ध्यान पूर्वक देखा—'सारा अङ्ग पीला पड़ गया है। पैरों की चप्पल तो अब बिलकुल घिस गयी है, मोजों की एड़ियाँ गायब हैं और कमीज में जगह-जगह उसी के हाथ का किया 'रफू' जगह-जगह से घिस पड़ा है। निकर का तार-तार होने वाला है, हायरे दुर्भाग्य।' युवती का हृदय हाहाकार कर उठा—'जाने कब दिन फिरेंगे, ६ साल हो गये यहाँ पापड़ बेलते बेलते, भली लड़ाई हुई।' फिर बोली—'उठो····।'

वह जल्दी में उठ कर थाली पर जा बैठा—'साढ़े दस बजे तक कचहरी पहुँचना है, उससे पहिले साहब के बँगले पर भी जाना है।'

लज्जा पान लगाने लगी; देखा—साइकिल के ऊपर एक बड़ी सी गठरी बँधी है, सोचा—'यह क्या ? क्या होगा इसमें ?' उसके उत्सुक मन ने जैसे उसे बाध्य कर दिया। जल्दी-जल्दी हाथ धो कर देखा—'सुन्दर-सुन्दर किनारी की एक से एक बढ़िया धोती····, क्या अब भी मिलती है ऐसी ? एक नीहार के लिये ले लूं···· ?, उसने हिसाब लगाया—'साढ़े सात रुपये के सूत के बटन बना कर बेचे हैं उसने, परसों ही तो बिसाती देकर गया है ····उतने में क्या एक धोती न आ सकेगी····?' लज्जा ने चाहा कि

गठरी खोल कर अन्दर ले जाए, एक-एक करके देख डाले कि कौनसी सबसे अच्छी है····?' पर गठरी इतनी कस कर बाँधी गयी थी कि उससे खुलती ही न थी, परन्तु वह जैसे सब कुछ भूल गयी थी और बराबर गाँठ खोलने का यत्न कर रही थी।

'थोड़ा पानी दे जाओ····।' मनोरञ्जन ने पापड़ के टुकड़े को मुँह में डालते हुए कहा।

'पानी····? ऐ पानी देना तो आज भूल गयी शायद।' जल्दी से गिलास भर पानी पति के हाथ में थमाते हुए उसने कहा—'इस गठरी में पूरी दस धोतियाँ मालूम होती हैं. कहाँ से ले आये इतनी सारी, मुझे तो बस एक नीहार के लिये चाहिये····, मेरी फिर देखी जायगी, बड़ी मँहगी होंगी।'

मनोरञ्जन के हृदय पर बज्राघात-सा हुआ—'यह हमारी नहीं हैं, न हमें मिल ही सकती हैं। यह तो डिप्टी साहब ने अपने घर के लिये 'स्पेशल परमिट' से मँगायी हैं। कल मेम साहब मैके जा रही हैं।'

लज्जा का मुँह उतर गया—'अपने घरके लिये 'स्पेशल-परमिट' से हमें नहीं मिल सकती—हमारी नहीं हैं?' एक साथ ही उसके मन में अनेक प्रश्न उठे और विलीन हो गये।

'एक भी नहीं मिल सकती?' युवती का मन फिर मचल उठा।

'ना····।' मनोरञ्जन का दम घुटने सा लगा—'बड़ी देर हो गयी आज।' कहता हुआ वह उठ खड़ा हुआ और जल्दी से कुल्ला करके साइकिल सँभाल घरसे बाहर हो गया।

लज्जा ठगी-सी खड़ी रही—'आगे क्या और किससे कहे?' उसने देखा—

'पान भी ज्यों का त्यों पड़ा है····, खाया ही नहीं आज।'

परिवर्तन

१

अविनाश किसी प्रकार भी अपने मित्र के विशेष आग्रह को टाल न सका, और बड़े दिन की छुट्टियाँ आरम्भ होते ही सपत्नीक इन्दौर के लिये चल पड़ा। अचला की अभी उम्र ही क्या थी? उसे वैसे भी साथ ले जाना जरूरी सा हो गया, परदेश में अकेली किसके भरोसे पर छोड़ता। यह उसे खूब याद था कि उसके मित्र प्रोफेसर सिन्हा को स्त्रियों के नाम तक से चिढ़ है, इसलिये उन्होंने अपने विद्यार्थी-जीवन में ही आजन्म अविवाहित रहने की प्रतिज्ञा सी ही करली थी, और उनकी यह धारणा भीष्मपितामह की भाँति सदा अटल रहेगी, इसमें अविनाश को तिल भर भी सन्देह न था। कदाचित् इसीलिये सपत्नीक जाते हुए वह कुछ संकुचित सा भी हो रहा था—एक प्रकार की झेंप और झिझक का अनुभव करते हुए भी पत्नी को साथ ले जाना जरूरी होगया। कारण, आधुनिक विचार रखते हुए भी स्त्रियों की ओर से सर्वथा निश्चिन्त हो जाना वह कोई कम बेवकूफी नहीं समझता था। क्या किया जाय, मजबूरी की हालत में साथ ले जाना ही पड़ा। दूसरे वह स्त्रियों के समानाधिकारों का हामी रहा है, यह कैसे सम्भव था कि वह सैर करता फिरे और अचला उसकी

प्रतीक्षा में बैठी हुई, उङ्गलियों पर तारीखें और घण्टे गिनती रहे। अस्तु, शुभ मुहूर्त में रवाना होकर वे दोनों इन्दौर पहुँच गये।

शिरीष बाबू के मकान का पता-ठिकाना ठीक मालूम न होने के कारण, गाड़ी कालेज के सामने जा कर खड़ी हो गयी। 'विज़िटिङ्ग कार्ड' देखते ही शिरीष बाबू इस प्रकार उछल पड़े, जैसे कि आजकल के जमाने में लोग-बाग़ 'सर' का खिताब पा कर फूल उठते हैं। शिरीष चन्द्र ने बाहर आकर मित्र से हाथ मिलाया, साथ ही यह भी देख लिया कि वह अकेले नहीं हैं। उपहास के ढङ्ग पर पूछा—'बच्चे-बच्चे कितने हैं ?'

अविनाश खिलखिला कर हँस पड़ा, 'इन तीन वर्षों के थोड़े से समय में क्या तुम दर्जनों बच्चों की कल्पना कर रहे थे ? जो है, हाज़िर करता हूँ।' और तब नौकर की गोदी से एक अधखिली गुलाब की कली लेकर शिरीष की ओर बढ़ा दी। वह हाथ न सिकोड़ सके, यत्न से हाथ बढ़ा कर उसे थाम लिया। बालिका किलकारी मार कर हँस पड़ी।

'अचला, अरे पर्दा करने का अभ्यास करने आई हो यहाँ ? यह कोई लड़कियों का स्कूल नहीं—कालेज है कालेज, देखो यह मिस्टर सिन्हा..........' युवती ने पति का आशय समझ, दोनों हाथ जोड़ कर सिर झुका दिया। प्रत्युत्तर में शिरीष बाबू ने नमस्ते कह कर, एक बार शिशु की ओर तथा एक बार उसकी माँ की ओर देखा।

अविनाश ने उनके ध्यान को भङ्ग करते हुए कहा—'अरे भई, क्या सड़क पर ही ठहराओगे ? घर बसाने की तो कसम ही

खा चुके हो......मगर कहीं होटल-वोटल......आखिर कहाँ खाते-पीते और सोते हो ?' 'हाँ.. हाँ...अरे....।' चपरासी पास ही खड़ा था—उसकी ओर देख कर कहा—'मकान पर सामान उतरवा आओ।' ताली जेब से निकाल कर अविनाश के हाथ पर रखदी—मानो यह उसी की धरोहर थी। और फिर—'मैं अभी थोड़ी देर में आता हूँ।' कह कर अन्दर चले गये। अविनाश पत्नी की ओर देख कर हंसा—'कभी पहिले भी ऐसा अजीब आदमी देखा है ?'

'अजीब क्या, मुझे तो बेचारे बड़े भोले से दीख पड़ते हैं।'

'हूँ....ठीक है, तुम्हें तो मेरे सिवा और सभी भोले दिखाई देते हैं।' इतने ही में मकान भी आ गया।

अविनाश ने पत्नी को समझाते हुए कहा—'देखो अनला! शिरीष ने अनोखी तबियत पाई है। वह बचपन से ही औरतों के नाम तक से खिजता है, और इसी लिये इसने अपना विवाह न करने का प्रण कर रक्खा है। वह कहता है कि अकेला रह कर मनुष्य अधिक आराम और बेफिक्री के साथ जीवन बिता सकता है। विवाहित लोगों की भर्त्सना वह बुजदिल, स्वार्थी और न जाने क्या-क्या कह कर किया करता है? और इसी आधार पर इसने अच्छी-अच्छी लड़कियों को ठुकरा दिया। तात्पर्य यह है कि यदि तुम्हारे प्रति भी कुछ उपेक्षा का भाव दिखलावे तो बुरा न मानना....समझीं, बस मुझे यही कहना था। वैसे नौकर-चाकर तो हई हैं, जैसा चाहो खाने पीने का प्रबन्ध करा लेना। शिरीष को मेरे साथ-साथ कहीं तुम्हारी भी चिन्ता न करनी पड़ जाये,

और मुझे उल्लू बनना पड़े।'

'नहीं यह सब कुछ न बनना पड़ेगा, आप चिन्ता न करें, मुझे तो वह ऐसे कुछ ना समझ नहीं जान पड़ते, जैसा कि आप कह रहे हैं।'' कहते हुए अचला ने अपनी 'जार्जट' की साड़ी तह करके खूंटी पर रख दी; और एक सफेद किनारीदार धोती बदल कर वह मेज पर तथा कमरे में अस्त-व्यस्त पड़ी हुई चीजों को झाड़-झाड़ कर करीने से रखने लगी। अविनाश बाबू पत्नी के ऊपर एक तीव्र दृष्टि डालते हुए अखबार उठा कर धूप मे पड़ी हुई आराम-कुर्सी पर जा बैठे।

२

अचला ने महरी से कहा—'महाराज को मत बुलाओ। उन्हें ऐसा वैसा खाना खाने की आदत नहीं है. मैं अपने हाथ से ही खाना बनाऊँगी।' और तब फिर वह उबले हुये आलुओं को छील-छील कर थाली में रखने लगी। रसोई-घर की चौखट पर बैठी हुई दासी मटर की फलियाँ छीलते-छीलते बोली 'बहू....! बाबू से बहुत बार कहा कि ऐसे अकेले-अकेले रहकर क्या कहीं गृहस्थी बनती है, घर से मालकिन को ले आओ,पर वह सुनते थोड़े ही हैं। भर पेट दोनों जून में एक भी जून खाना नहीं खाते, कौन ठीक बनता है? इतना कमाते हैं. पर यह बामन का छोकरा उन्हें ढंग से बनाकर खिलाता ही नहीं अपने से बचे तब तो? हम तो कोई खुराक के नौकर हैं नहीं, पिछले महीने में पूरे दस का घी उड़ा दिया, हम से तो रोज-रोज झगड़ा किये रहना है। पर बाबू की सूरत देखकर तो रुलाई छूटती है, कौन कहेगा कि यह घी-दूध से

पाली गई काया है; मानो बरसों के बीमार हो।' अचला ने 'हूँ' करके अँगीठी पर साग छौंक दिया, और चूल्हे पर कढ़ाई टेक बेसन की पकौड़ियाँ बनाने लगी। महरी की जबान बराबर चल रही थी 'आज भर पेट खाना मिलेगा, सूना घर फाड़ खाने को आता था। बामन का छोरा कह देता रहा 'घर पर है कौन जिसे ले आवें ? मैयारी, कोई ऐसे भी कहता होगा ? रामजी सब बने रहें। और हां बहू, यह जो साथ आये हैं यह तुम्हारे कौन है ?'

अचला खीझ उठी-इस बेवकूफ को यह सब क्या समझावे। झल्लाकर बोली–महरी, तुम्हें इन बातों से क्या मतलब ? चुपचाप अपना काम करो। देखो जरा इस बटलोई को फिर से साफ़ करके ले आओ जल्दी।'

रामधन ने आकर कहा–'बाबू जी बहुत नाराज हो रहे हैं कि खाना तुमने क्यों नहीं बनाया ? अब कितनी देर है ? घूमने के लिये कार तइयार खड़ी है।'

'नहीं-नहीं नाराजी की कोई बात नहीं-तुम थाल कटोरी तइयार करो, मैं अभी परसे देती हूँ' कह कर वह पतली-पतली पूरियां उतारने लगी। शिरीष की खुशी का कोई ठिकाना न था। जिस सुख की कभी कल्पना भी न की थी .... वह सुख अनुभव में आ रहा था। रसोइया रोज़-रोज़ माथा खाता रहता है–'आज काहे की दाल बनाऊं बाबूजी, साग क्या होगा? अब लकड़ी चुक गई। बाजार का आटा तो ऐसा ही होता है' इत्यादि। अब पता भी नहीं लगता कि कैसे यह समस्याएं हल होती जा रही हैं। धीरे-धीरे आठ दिन बीत गये, छुट्टियाँ समाप्त होने को हैं, पर शिरीष

को इसका अनुमान भी नहीं। पहिले प्रायः छुट्टी के दिनों में भी वह कालेज जाना नहीं छोड़ते थे। और तो वहां कोई काम रहता नहीं हां, घंटा दो घंटा लाइब्रेरी में भले प्रकार बीत जाता था। परन्तु जिस दिन से यह लोग आये हैं पहिले दिन को छोड़ आज तक लाइब्रेरी की सूरत नहीं देखी।

अचानक ही खाना खाते-खाते अविनाश बोल उठा—'भई शिरीष! परसों लौट जाने का विचार कर रहा हूं। घर से तो बहुत ऐतिहासिक स्थानों की सैर करने का विचार लेकर चला था, परन्तु यहां सब गुड़ गोबर हो गया। यह तुम्हारा अच्छा आतिथ्य रहा। आठ दिन यूं ही बीत गये। चलो और कुछ नहीं तो कल देवगढ़ की विख्यात गुफा की ही सैर कराओ, बड़ी तारीफ सुनी है।'

'ऐं....यह तुम क्या कह रहे हो अविनाश? परसों लौट जाना है। मैं तो यह भूल ही गया था कि तुम्हें यहां से चले जाना भी है। तुम लोगों ने तो मेरे जीवन में ही भारी उलटफेर कर डाला। इन छुट्टियों के दिन तो शायद जीवन-भर न भूल सकूंगा।.... अच्छा भाभी से तय करलो चलो कल ही देवगढ़ चलें।'

अविनाश ने आँखों में शरारत भर कर कहा—'यह उलट फेर कोई साधारण नहीं—सोने की गुंधी हुई चेन है। अब तो जीवन पर्यन्त कुमार रहने की डींग न मारोगे? इन्हीं जाड़ों में विवाह कराये देता हूँ .... अचला की सगी बहन है, उसकी तारीफ तो करना व्यर्थ है। बस तइयार हो जाओ!' और फिर बिना उत्तर की प्रतीक्षा किये अचला के पास जाकर बोला 'कल सुबह देवगढ़

जाने की बात ठीक कर आया हूँ। सात बजे तइयार हो सकोगी न? कार से चलना है—सात नहीं तो आठ बजे तक अवश्य तइयार हो लेना।'

'लेकिन यहां तो बड़ी ठंड पड़ती है। इतने छोटे बच्चे के साथ सुबह जल्दी ही तइयार नहीं हुआ जा सकता। फिर मुझे कल तक यह स्वेटर भी तइयार करना ही है।' युवती ने सलाई बदलते हुए कहा।

'स्वेटर ? किसका स्वेटर ? खूब, यहाँ बुनाई शुरू करदी।'

'और क्या करती ? खाली समय में थोड़ा थोडा कर के पूरा हो ही गया। कोई रात दिन ही तो नहीं घूमा फिरा जाता।'

'इसीलिये घर मे यह बेगार भी बाँध लाईं।'

'हां लेकिन घर लेकर जाने का विचार नहीं है, यदि आप को बुरा न लगे तो यहीं छोड़ दूं। कुछ दिनों तक हम लोगों के यहां आने की निशानी रहेगी'

'अच्छा ! यह ठाट हैं ? ठीक....मगर फिर मेरे कान न खाना कि कहीं घुमाया फिराया नहीं।'

'ना.... अब की बार कभी फिर आये तो देखा जायगा।'

'तो क्या फिर भी यहां आने का निश्चय कर चुकी हो ?'

'क्यों, आदमी का आदमी से दस दफा मिलना हो सकता है ?

और हाँ-क्यों जी तुम अपने इन मित्र के साथ इन्हें समझा बुझाकर चित्रा का रिश्ता क्यों नहीं करा देते ? मैंने पहले भी उस दिन कहा था। भला कहीं इस प्रकार अकेले अकेले जिन्दगी के

दिन कटा करते हैं ? पिताजी को ऐसे ही वर की तलाश है—मुझे तो यह बहुत पसन्द है।'

'लेकिन बहुत से लोग तो स्त्रियों को जी का जंजाल मानते हैं।,

'ऊं बहुत देखे हैं' गृहिणी के बिना गृहस्थ ही क्या ? तब तो फिर घर द्वार छोड़ कर जंगल में रहना चाहिये। जहाँ कोई एक घूंट पानी तक देने वाला न हो। शुरू शुरू में सब यूंही कहा करते हैं। आप भी तो सुना है कि देश भक्ति में ही जीवन बिताने की सोच रहे थे।'

'हाँ, लेकिन अम्मां मानी ही नहीं—पानी देने वाले तो हर जगह मिल जाते पर ताने देने वालों की कमी अलबत्ता रहती।'

युवती के माथे पर बल पड़ गये। स्वेटर को वहीं पलंग पर डाल, कमरे में जाकर वह बिना जरूरत के ही चाय के प्यालों को कपड़े से साफ कर के एक ओर को रखने लगी।

'अरे भई अविनाश ! गया था देवगढ़ जाने की बात पूछने वहाँ झगड़ा ही ठान दिया, आखिर कुछ तय किया या नहीं।'

'हाँ····तय यह किया है कि इसी समय यहाँ से भाग जाऊं। मुझे इस घर का वातावरण अत्यन्त अस्वास्थ्यकर लग रहा है।'

'यह क्या अविनाश ? यह तुम कैसी बातें कर रहे हो ? तबियत तो ठीक है न ?' कहता हुआ शिरीष भी वहाँ आ गया और अवाक होकर अविनाश के मुंह की ओर देखने लगा।

सुबह की गाड़ी से अविनाश जाने को है। पहिले दिन शाम को शिरीष ने बहुत से खिलौने लाकर मुन्नी के सामने डाल दिये। अचला देख कर चौंक पड़ी—'यह क्या ? बेकार पैसे बर्बाद करने से लाभ ?' किन्तु शिरीष ने मानों कुछ सुना नहीं; पलंग पर पड़ी हुई मुन्नी को उठा कर प्यार करते हुए बोला—'हमें भूल तो न जाओगी बिटिया ! यह घर तो फिर फाड़ खाने को आयेगा।'

'तो फिर इन लोगों को यहीं रखलो।' बरामदे में टहलते हुए अविनाश ने कहा।

'यह कैसे सम्भव हो सकता है-ऐसा मजाक न करो। मगर अपने जीवन के असीम परिवर्तन के इन दिनों को भूल सकूंगा कभी....इसकी तो सम्भावना नहीं जान पड़ती। तुम धन्य हो अविनाश ! बड़े भाग्यशाली हो। कभी हमसे अभागों को भी याद कर लिया करना। यहाँ आकर तुम्हें आराम तो क्या मिलता, उल्टी तकलीफ ही उठानी पड़ी।' कहते कहते शिरीष का गला रुंध गया और आँखें छलछला आईं। उसने अपना मुंह फेर लिया। यदि वह साहस करके किसी प्रकार अविनाश की ओर देख सकता तो देखता कि इस समय उसकी आँखें आग की चिनगारियाँ उगल रही हैं।

अविनाश ने अपने शब्दों में जहर घोलते हुए कहा—'यह सब किसके प्रति कहा जा रहा है ? खूब समझता हूँ शिरीष ! जान पड़ता है कि मायाविनी अचला का प्रभाव तुम्हारे सर पर भूत

बन कर चढ़ बैठा है। शायद तुमने मुझे समझने में गलती की, सभी तो····लेकिन याद रखना, जो विष का घूंट पी सकता है, वमन भी करेगा ही।' फिर अचला की ओर घूरते हुए कड़क कर कहा—'बोलो, चलती हो या यहीं रहने का विचार है। यदि चलना हो तो फौरन सामान ठीक करो, अभी चलना है।'

'यह क्या अविनाश? तुम होश में तो हो न? तुम्हें तो नशा करने की भी आदत नहीं थी। मुझे चाहो जो कुछ कहो, लेकिन बेचारी भाभी को····।'

'चुप रहो बस।' कह कर अविनाश अपना सामान ठीक करने लगा। नौकर को भेज दिया गाड़ी लेने। शिरीष ने बड़ी कठिनाई से अपने को संभालते हुये कहा—तुम मेरे मित्र हो अविनाश, नहीं तो इस अपमान के बदले में···' और पूरी बात कहे बिना ही वह तेजी के साथ घर के बाहर निकल गया।

अचला पत्थर की मूर्ती के समान खड़ी खड़ी अविनाश की ओर देखने लगी। इस समय उसका हँसमुख स्वभाव तथा उसकी विनोद-प्रियता अचला को सिनेमा एक्टरों की नाईं अपना पार्ट अदा कर देने भर की कोरी विडम्बना ही जान पड़ी। युवती ने सोचा—उफ····आज तक कभी यह नहीं सोचा था कि स्वर्णघट में विष भरा हुआ है, इतना हँसमुख आदमी भी इस प्रकार अविश्वासी और भयानक हो सकता।'

उधर अविनाश असफल विद्यार्थी की भाँति हृदय में उठती हुई दुर्बलता और पश्चात्ताप की हिलोरों पर विजय प्राप्त करने का यत्न कर रहा था····जल्दी जल्दी अपना सामान सहेजने में।

जब रात को किसी प्रकार अपना मन समझा कर शिरीष घर लौटा, तब चारों ओर अन्धकार फैल चुका था। वह शून्य की ओर दृष्टि गड़ाये कुछ खोजने लगा, कहीं उसे पाप की छाया तक मिल जाये, वह अपने को मिटाना जानता है, वैसा अधम नहीं है। परन्तु उसे अपना मन दर्पण की भाँति स्वच्छ दीख पड़ा—'तब····तब यह पल भर में क्या हो गया ?' सामने ही पलंग पर अधूरी दशा में ऊनी स्वेटर पड़ा हुआ मानो चीत्कार कर रहा था। शिरीष ने उसे उठा कर दियासलाई जलाई, किन्तु फिर न जाने क्या सोच कर उसने उसमें आग न लगाकर खूंटी पर डाल दिया। फिर सोचने लगा····परिवर्तन कैसा परिवर्तन ओ ! वह भी परिवर्तन था····और यह भी परिवर्तन है···· बस यही तो।'

—— ——

[अदृष्ट

मन की साध

—१—

आज बाबू रघुबीरसहाय जिमीदार के घर काफी चहल-पहल थी। इस समय बाबू साहब संसार में न थे, और न वे अपना कोई उत्तराधिकारी ही छोड़ गये थे, इसीलिये यह तो बनी बनाई बात थी, कि उनकी विधवा पत्नी की मृत्यु के बाद उनके अन्य कुटुम्बी उनकी अतुल सम्पत्ति के मालिक होंगे। एक लड़की पुष्पा है, वह विवाह के बाद, दूध में पड़ी हुई मक्खी की तरह निकाल कर फेंक दी जायगी। पर यह जब होगा, तब होगा। इस समय तो दोनों मां-बेटी सारे कुटुम्ब की सिरमौर बनी हुई हैं। पुष्पा की मां, सम्मिलित परिवार में रहते हुए भी पति की सारी सम्पत्ति पर अपना ही अधिकार समझती है और ऐसा ही व्यवहार करती है, चाहे उनके ये भाव भविष्य में विडम्बना जनक ही क्यों न हो उठें।

पुष्पा की मां के देवर, बाबू रामधनीसिंहजी अपनी भावज के साथ व्यर्थ का झगड़ा मोल लेना नहीं चाहते। सोचते हैं, एक लड़की है, उसके व्याह में दस नहीं बीस हजार दे देंगी, बाकी सब तो यहीं छोड़ जायंगी, जो हम लोगों के ही काम आने

वाला है। ऐसी दशा में झगड़ा-फसाद करने से कोई लाभ नहीं है।

ऊपर कहा जा चुका है, कि आज इस घर में विशेष चहल-पहल थी। मकान की सजावट और रसोई का प्रबन्ध खास तौर पर हो रहा था। इसका कारण यह था कि सुलतानपुर के प्रसिद्ध रईस बा० हरमुखचन्द्र का लड़का अपनी माँ के साथ पुष्पा को देखने आ रहा है। लड़का पढ़ा-लिखा सुन्दर और चतुर है। सब से खास गुण यह था, कि डिप्टी कलक्टरी की पोस्ट उसे मिल चुकी थी। घर के प्रत्येक आदमी को ध्यान था, कि उनकी आवभगत और खातिरदारी में किसी प्रकार की कमी न होने पाए। नहीं तो बना बनाया काम चौपट हो जायगा और दूसरा लड़का ढूँढ़ने में न जाने कितना समय और धन नष्ट हो। हिन्दू परिवार में कन्या की स्थिति अचल शिला से कम नहीं समझी जाती, जिसके सामने से उठ जाने पर ही संतोष होता है। इसी कारण आज राय साहब का घर भर चिन्तित सा था। पुष्पा की मां हरनन्दी देवी महाराजिन और महाराज को बार-बार चेतावनी दे रही हैं—देखो, घी की चाहे नदी बहानी पड़े, पर साग-सब्जी ऐसी बनें, जो खाने वाले हाथ चाटते रह जायं। पुष्पा की चाची स्वर्णलता नौकरों और दास-दासियों को ट्रेंड कर रही थीं—देखो, मकान में ऐसी सफाई हो, जो देखने वालों को तसवीर-सा प्रतीत हो।

रामधनीसिंह के चार बच्चे थे—दो लड़की और दो लड़के। सब से बड़ी लड़की माधवी का विवाह फैजाबाद के एक बहुत

बड़े रईस घराने में हो चुका है, पर अभी गौना नहीं हुआ। इसलिये माधवी यहीं रहती थी। उसके जिम्मे अपने छोटे भाई-बहिनों की सफाई का काम था। मेहमानों के सामने कोई बच्चा ऐसा न जाय, जिसे गंदा कहा जा सके।

रामधनीसिंह की दृष्टि स्टेशन से आने वाली सड़क की ओर लगी हुई थी। गाड़ी और कार को स्टेशन गये घंटों बीत गये, पर वे लोग अभी तक आये क्यों नहीं? कहीं गाड़ी लेट तो नहीं हो गई? अथवा वे आये ही नहीं? न आते, तो सवारियाँ लौट कर आतीं—आदि बातें सोचते हुए वे अपनी कोठी के बैठक खाने के सामने वाले बरामदे में चक्कर लगा रहे थे।

घर में पुष्पा का सजाना बाकी था। यही ड्यूटी माधवी की थी। पुष्पा की मां, उसे सच्चे सलमे-सितारों से जड़ी हुई साड़ी पहना कर उन लोगों के सामने ले जाना चाहती थी, पर पुष्पा अत्यन्त सादा पहनावा पहरने की हठ कर रही थी। आखिर माधवी ने अपनी ताई को समझा-बुझा कर इस बात पर राजी कर लिया, कि आप लोग पुष्पा को तंग न करें, मैं सब ठीक कर लूंगी। पुष्पा की मां निश्चिन्त होकर वहाँ से उठ गयी।

माधवी ने एकान्त पाकर पुष्पा का शृङ्गार करना शुरू किया। पहले चोटी बांध कर उसमें गुलाब का फूल लगाया। चेहरे को तौलिये से पोंछ कर माथे पर गुलाल की नन्हीं सी बूंद रक्खी। इसके बाद सलमे का काम की हुई हलके गुलाबी रंग की साड़ी और उसी रंग का सलूका पहनाया। हाथों में जड़ाऊ कंगन,

उंगलियों में हीरे की अंगूठी, कानों में मोतियों के झुमके और नाक में हीरे की कील पहना दी। जब यह सब काम हो चुका, तो माधवी पुष्पा को खींच कर दीवार में लगे आईने के सामने लाकर बोली—जरा देख तो सही पुष्पा तू कैसी सुन्दर प्रतीत हो रही है ?

पता नहीं पुष्पा ने अपना सौन्दर्य आईने में देखा या नहीं, पर उसके हृदय में एक प्रकार की गुदगुदी-सी जरूर होने लगी। माधवी ने उसकी ठुड्ढी ऊपर उठा कर फिर कहा—देखती है या नहीं ?

इस बार पुष्पा ने अपने संकोच को दूर कर साहस पूर्वक कहा—मुझे क्या देखना है जीजी, जो रूप मेरे सामने बिखरा पड़ा है, उसको देख कर तो अपने सामने आंख उठाते भी लज्जा आती है। चन्द्रमा की चांदनी में तारे अपना मुंह नहीं खोलते। फिर मैं तुम्हारे इस रूप के सामने अपना मुंह क्या देखूं ?

—अरे तुम तो बड़ी चपल हो गयी हो ? अभी से यह हाल है ?

—नहीं जीजी, सच बात है। यदि कहीं तुमने यह साड़ी पहनी होती तो देखतीं। जीजी, मुझे तो ऐसा लग रहा है कि कहीं वे लोग मेरे बदले····

—दुत पगली, मुझे ऐसी हँसी नहीं भाती।

—झूठ नहीं माधवी जीजी, यदि कोई एक बार तुम्हें देख ले, तो वह संसार भर की सुन्दरता पर ठोकर मार सकता है।

—अच्छा अब चुप रह, मैं जाती हूँ।

माधवी वहाँ से चली गयी। इसी समय किसी ने बाहर से आकर कहा—आ गये। घर भर में शोरोगुल मच गया—आगये-आगये। मानों डाके वाले लूटने के लिये आये हों।

—२—

एक अत्यन्त सुसज्जित कमरे में, खूब मुलायम और गुदगुदे मखमली कालीन पर पुष्पा को बैठा दिया गया था, उस समय पुष्पा की ठीक वही दशा थी, जैसे परीक्षा में बैठे हुए विद्यार्थी की होती है। यद्यपि पुष्पा को देखने आने वाले लोग अभी तक वहाँ न पहुँचे थे, पर पुष्पा का हृदय धड़कना शुरू हो गया था। परिणाम चाहे जो कुछ हो, पर उस परीक्षा का फल जानने के लिये विद्यार्थी का हृदय उछलने लगता ही है। प्रतीक्षा असहनीय हो उठती है उधर पुष्पा का अपनी मां, चाची और माधवी के मारे नाक में दम हो रहा था। कोई आकर उसका कंगन ठीक करती, कोई उसकी साड़ी का आँचल ठिकाने करती और कोई सलीके से बैठने का उपदेश देती थी। इस प्रकार फागुन के महीने की गुलाबी सरदी होते हुये भी पुष्पा के गुलाबी चेहरे पर मोतियों के से स्वेद-कण झलक रहे थे। जो बार-बार पोंछने पर भी उस किशोर आनन का मोह छोड़ना न चाहते थे। एक प्रकार की घबराहट, एक प्रकार की बेचैनी पुष्पा के नन्हे से हृदय को ममले दे रही थी। पुष्पा की यह घबराहट और बेचैनी उसकी अनुभव-हीनता के कारण थी। वास्तव में उसे अपनी परीक्षा में फेल होने का डर होना ही नहीं चाहिये था। क्योंकि वह आदर्श सुन्दरी न सही. अत्यन्त सुन्दरी अवश्य थी। पुष्पा भी यह सम-

झती थी। वह कभी-कभी सोचती, मैं इतनी बदसूरत तो हूँ ही नहीं, जो फेल होने का डर हो, फिर भी न जाने क्यों जी नहीं मानता। क्या यह उन्नत और स्वच्छ ललाट कोई महत्व नहीं रखता ? क्या बड़े-बड़े सरस दूध के धोये से नेत्रों में आकर्षण नहीं है ! तिरछी और घनी भौंहें, ऊँची और पतली नासिका, गुलाब से उभरे और खिले हुए कपोल तथा लाल-लाल पतले ओठों के बीच मोती जैसे चमकते हुए दाँत अपनी सुन्दरता में किसी से कम हैं ? पतली और सुराही दार गोरी-गर्दन को मोतियों की माला ने खिला नहीं रक्खा है ? छोटे-छोटे पतले और गरावदार हाथ पैरों की सुन्दरता दर्शकों के मन-मीन को सहज ही फंसा लेने की शक्ति नहीं रखती ? मंझोले कद की पुष्पा में, किसी प्रकार की कमी नहीं थी, फिर भी न जाने क्यों वह अत्यन्त घबरा रही थी, और उसका हृदय धड़क रहा था। इसमें तो जरा भी सन्देह नहीं कि माधवी पुष्पा से अधिक आकर्षक जान पड़ती है, पर पुष्पा में वर्णन कर सकने योग्य न कोई कमी थी और न माधवी में कोई विशेषता ही। पुष्पा को एक बार देख कर बार-बार देखने की इच्छा होती है और माधवी को देख कर नेत्र उसी की ओर लगे रह जाते हैं।

हाँ, यह हो सकता है, कि पुष्पा अपनी प्यारी मां के स्नेह को याद कर, उसके वियोग की अशंका से घबरा रही हो। उसी दिन विवाह का दिन निश्चित होने वाला था और वह दिन आया और स्नेहमयी मां को छोड़ कर ऐसे स्थान में चले जाना पड़ेगा, जहाँ के किसी भी आदमी से परिचय नहीं है। आह, यह कितने

दुःख की बात है।

पुष्पा नीचे सर झुकाए, न जाने क्या-क्या सोच रही थी कि माधवी की मां ने प्रवेश करते हुए कहा—ऐसी दबी हुई क्यों बैठी है बेटी ? माधवी को भेज दूं ? अच्छा जरा हंस तो दे।

कहकर चाची ने उसका मुंह अपने हाथ से कुछ ऊपर कर दिया। पुष्पा ने हँसने की चेष्टा की, पर हँस न सकी। उसके नेत्र डबडबा आए। यह देख चाची ने झिड़ककर कहा—इस मङ्गल-महोत्सव के समय आँसू बहाती है ? अच्छा माधवी को भेजती हूँ।

माधवी बराबर वाले कमरे में, आदमकद आइने के सामने सजी-सजाई खड़ी, मुंह पर लटकी अलकों को सवाँर रही थी, कि पीछे से उसकी माँ ने आकर कहा—अरी बेटी, तू यह क्या कर रही है ? आज लोग तुझे नहीं, पुष्पा को देखने आ रहे हैं। जाकर उसके पास बैठ। वह अकेली घबरा रही है।

माता के स्वर में ताड़ना थी। माधवी झिझक कर पुष्पा के कमरे की ओर चली। पर उस कमरे में पैर रखते ही उसने देखा कि पुष्पा की सास, माँ और उसका दूल्हा सोमेश्वर वहाँ पहले से ही बैठे हैं। माधवी के वहाँ आते ही कमरे में एक प्रकार की रोशनी-सी फैल गयी। सोमेश्वर कुर्सी से खड़े हो गये और क्षण-भर के लिये माधवी के नेत्रों से उनके नेत्र मिल गये। सोमेश्वर ने मनमें कहा—ऐसा अनिन्द्य सुन्दर रूप !

माधवी को खयाल हुआ—वे तो इनके सामने कुछ भी नहीं हैं। ये कैसे भोले और सुन्दर हैं।

माधवी धीरे-धीरे जाकर पुष्पा के पास बैठ गयी। पुष्पा अपने मनमें न जाने क्या सोच कर एक बार काँप उठी।

क्षणभर के लिये उस कमरे में निस्तब्धता का साम्राज्य फैल गया। कार्निस पर रक्खी घड़ी टिक-टिक शब्द से साढ़े चार बजा रही थी। इस निस्तब्धता को भंग किया, सोमेश्वर ने। उसने अपनी माँ की ओर कुछ इशारा किया। सोमेश्वर की माँ ने पुष्पा की माँ की ओर देख और उंगली से माधवी को दिखाकर कहा—क्या यही है?

पुष्पा की माँ अभी कुछ उत्तर न दे पाई थी कि चौखट के पास खड़ी हुई माधवी की माँ ने कहा—नहीं, यह नहीं, वह है। यह तो मेरी लड़की है।

यह सुन कर सोमेश ने एक बार माधवी की ओर देखा और एक बार पुष्पा की ओर। सोमेशकी माँ ने माधवी की माँ से पूछा—तुम्हारी लड़की है?

—हाँ। अभी दो महीने हुए इसका विवाह हुआ है।

चतुर गृहिणी ने किसी उलझन को सुलझाने के लिये कहा।

स्वाभिमानिनी पुष्पा और उसकी माँ ने एक दूसरे की ओर देखा। हरनन्दी ने पुष्पा का हाथ पकड़ कर कहा—उठो बेटी, बस हो चुका।

इसी समय सोमेश की माँ ने अपने गले से सोने की जंजीर निकाल कर पुष्पा को पहनाते हुऐ कहा—लड़की यह भी बड़ी सुन्दर है। समधिन, आज से तुम्हारी लड़की मेरी हो चुकी। मेरा सोमेश इसको सुरमे की तरह सदा आँखों में रक्खेगा।

भगवान, इनकी जोड़ी बनाये रक्खें, मेरा यही आशीर्वाद है।

पुष्पा की माँ ने सोमेश के सिर पर हाथ फेरा और उसकी माँ के पैर छुए, पर वह चेष्टा करने पर भी कुछ कह नहीं सकीं। उनके नेत्रों में आँसू थे, गला रुंधा जा रहा था। दूसरे कमरे में जाकर उन्होंने पुष्पा को हृदय से लगा लिया। दोनों माँ-बेटी रो पड़ीं।

३

पुष्पलता के विवाह को दस वर्ष बीत चुके हैं। दिन एक के बाद आये और चले गये। पुष्पा ने इतने सुख की कल्पना भी न की थी, जितना उसे यहाँ प्राप्त हुआ था। घर में दास-दासी थे, मोटर थी, घोड़ा गाड़ी थी, सास-ससुर का अकृत्रिम और सरल स्नेह था। और सबसे बड़ी बात यह थी, उसके पति सोमेश्वर प्रसाद डिपटी कलेक्टर के हृदय पर उसका पूरा राज्य था। डिपटी कलक्टरी के सिवा उस घर में जायदाद भी कम न थी। सब ओर आनन्द ही आनन्द था। पुष्पा सास-ससुर की आँखों की पुतली थी। वे सदा उससे प्रसन्न रहते थे। सोमेश्वर के लिये तो मानों पुष्पा के सिवा संसार में और कुछ था ही नहीं। और जब पुष्पा के गर्भ से एक पुत्र और एक कन्या ने दर्शन दिये तब उस घर में उसका सम्मान और प्रतिष्ठा और भी बढ़ गई। उसकी राय के बिना सभी काम अधूरे रह जाते थे। मतलब यह कि पुष्पा इस समय पूर्ण सुखी थी।

सुख के इस स्वच्छ आकाश में कभी-कभी चिन्ता के काले मेघ का कोई टुकड़ा दिखाई दे जाता था, तो वह पुष्पा के मायके

की ओर से आया हुआ होता था। पुष्पा की माँ जब तक जीवित रहीं, उसे खूब मानती रहीं, पर जब से उसकी माँ मरी, तब से सच पूछा जाय, तो पुष्पा का मायके के साथ सम्बन्ध ही टूट गया। वैसे तो कभी-कभी ब्याह शादी के मौके पर दो चार दिन के लिये चचा उसे बुला लेते थे, पर वहाँ जाकर उसके हृदय की वह भूख शान्त न होती, जो माँ-बाप और भाई-बहन के अभाव में उसके हृदय को मसलती रहती था। पुष्पा लाचार होकर अपने कलेजे पर पत्थर रख सुसराल चली आती!

ससुराल पहुँचते ही पति के प्रेम और सास-ससुर के स्नेह मे पुष्पा के हृदय का यह घाव शीघ्र ही भर जाता था। यही पिछले दस वर्ष का इतिहास था। पुष्पा को सुख-सौभाग्य के मादक वातावरण में रहते हुए यह भी पता न चलता, कि कब सूर्य उदय हुआ और कब अस्त।

लेकिन सब दिन होत न एक समान। पिछले छ महीनों से पुष्पा का भाग्य रूठ रहा था। छ महीने पहले सोमश को दौरे पर ठण्ड लग जाने से अचानक न्यूमोनिया हो गया था। न्यू-मोनियाँ तो वैद्यों और डाक्टरों की कोशिश से अच्छा हो गया, पर ज्वर बराबर रहने लगा। काफी चिकित्सा की गई, पर कोई सफल न हुआ। अन्त में डाक्टरों ने कह दिया, इन्हें पहाड़ पर ले जाओ, अन्यथा टी० बी हो जाने का खतरा है। उसी सप्ताह नैनीताल जाने का विचार पक्का होगया।

पुष्पा का अधिकाँश समय पति की सेवा करने में ही बीतता था और जो कुछ बचता, वह ईश्वर प्रार्थना में गुजरता। इस

समय उसे अपने बच्चों की भी सुध न थी। रात-दिन उसके हृदय में ज्वाला सी जलती रहती है। हे भगवान, क्या पहला सा समय अब लौट कर न आयगा। मैंने तो स्वप्न में भी कभी किसी का दिल दुखाने की चेष्टा नहीं की, फिर मुझे यह दण्ड क्यों मिल रहा है? पति की सेवा में पुष्पा ने अपने खाने पीने की भी परवाह नहीं करती। उधर सोमेश के माता-पिता पुत्र की चिन्ताजनक अवस्था और बहू के मानसिक कष्ट को देख कर मृतप्राय से हो रहे थे। इसी दशा में एक दिन सब लोग नैनीताल के लिये रवाना हो गये। गाड़ी स्टेशन से छूटी, तो प्राची दिशा में सूर्य भगवान की किरणें, कभी-कभी गहरे बादलों में इस प्रकार चमक रहीं थीं, जैसे निराश जीवन में आशा की रेखा।

४

संध्या के सुहावने समय में कभी-कभी मन ऊब उठता है। मन में जब खुशी नहीं होती, तो संसार की सुन्दर से सुन्दर वस्तु भी उसे प्रसन्न नहीं कर सकती। आज पुष्पा के मनका भी यही हाल था।

पहाड़ की सबसे ऊँची जगह पर बने हुए एक स्वच्छ कमरे में सोमेश्वर चारपाई पर लेटे थे। उनकी माता भी जीवन्मृत की भाँति एक ओर पड़ी हुई थी। पिता डाक्टर के यहाँ गये थे और बच्चे नौकर के साथ घूमने।

सोमेश की चारपाई की पट्टी पर माथा टेके हुए उनकी जीवन सङ्गिनी पुष्पा, अपने उमड़ते हुये आँसुओं को पी रही थी। वह

मन ही मन अतीत के चित्रों को याद कर, उन पर अपनी स्मृति से और भी गहरा रंग चढ़ाने की कोशिश कर रही थी। भविष्य का ध्यान आते ही उसका दम घुटने लगता है और वर्तमान तो सूना हो ही रहा था। इसी समय सोमेश ने बड़े स्नेह मिश्रित स्वर से कहा—पुष्पा !

पुष्पा ने चौंक कर पूछा—कहिये, क्या बात है ?

सोमेश ने कहा—कुछ नहीं। मैं यह सोच रहा था, कि कुछ दिन और जीता रहता, तो कैसा अच्छा होता ? अभी इस दुनियाँ में रहने की इच्छा होती है। पुष्पा, यदि सौभाग्य के बीते हुये दिन एक बार फिर आजाते, तो जीवन की साध पूरी हो जाती। आह, वे दिन कितनी जल्दी बीत गये।

कहते-कहते सोमेश की आँखों में आँसू आगये। पुष्पा, अपने हृदय पर बज्र रख कर उन्हें धैर्य देने लगी। बोली—ऐसी बात मुंह से नहीं निकाला करते। तुम तो अब बहुत शीघ्र अच्छे हो जाओगे।

—अरी पगली, मृत्यु का उपहास नहीं किया जाता। मैं अब बचने वाला नहीं हूँ।

पुष्पा ने उनके मुंह पर हाथ रख कर कहा—ऐसा न कहिये, ईश्वर सब भला करेंगे। दुःख भी तो मनुष्य की ही सम्पत्ति है ?

—ठीक है, लेकिन आज कई दिन से मैं एक बात सोच रहा हूँ। उसे तुम से कहने की इच्छा तो होती है, पर हिम्मत नहीं होती।

पुष्पा ने कहा—क्या बात है, कहो न, मुझे इस प्रकार मानसिक कष्ट की आग में क्यों तपा रहे हो ?

—कह डालूं ? मैं यह जानता हूँ कि तुम साक्षात् देवी हो, अत्यन्त भोली और सरल हो। इसी कारण यह बात कहते हुये डर लगता है।

—डर ? मुझसे डर लगता है ? देखिये यदि आप अपने मन की बात छिपा जायेंगे, तो मुझे बड़ा दुःख होगा।

—अच्छी बात है, सुनो। लेकिन मुझसे नफरत न करने लगना पुष्पा। बात बहुत जरासी है, इसे मेरी भूल समझो या इस आसन्न-मृत्यु-पथ पर भटकते हुये प्राणी के मन की साध। सम्भव है इससे तुम्हें कष्ट पहुँचे, तुम्हारा जी दुखे। मेरी प्रार्थना है, कि मेरी यह बात सुन कर तुम उस व्यक्ति से घृणा न करने लगना, जो तुम्हें सदा से देवी समझता आरहा है।

पुष्प का सारा धैर्य जाता रहा। उसने पति के माथे पर स्नेह से हाथ फेरते हुए कहा—मुझे अधिक विचलित न कीजिये। हिन्दू नारीके लिये पतिसे बढ़कर संसार में और कोई नहीं होता। पतिकी इच्छा, पतिका वाक्य उसके लिये वेद वाक्य के समान होता है।

पुष्पाके स्पर्शसे नजाने क्यों सोमश का सारा शरीर कांप उठा। उन्होंने कुछ सम्हल कर कहा-- अच्छा लो कहता हूँ। पुष्पा, अपने इस अन्तिम समय में एक बार, सिर्फ एकबार माधवी को देखने की इच्छा होरही है। क्या इसे पूरा कर सकोगी ? भगवान तुम्हारे मनकी साध भी पूरी करेंगे।

पति की बात सुनकर पुष्पा मानो आकाश से गिर पड़ी। वह पलभर के लिये सब कुछ भूल गयी—अपने को, सोमेश को और उसकी बीमारी को। उस वक्त उसके हृदयमें माधवी के अतिरिक्त और कुछ न था। हृदय में एक प्रकार की कसक, एक प्रकार की टीस अनुभव कर के उसका मन हाहाकार कर उठा। यह भी कोई इच्छा है? यह भी कोई मन की साध है? इस आघात के सहने योग्य तो उसने अपने हृदय को बनाया ही नहीं था, फिर भी तीर छूट कर निशाने पर बैठ चुका था। अब क्या हो सकता था? वह कुछ देर बाद सम्हल कर बोली—अच्छी बात है, कोशिश करूंगी।

पुष्पा से माधवी का साथ बहुत दिन से छूट चुका था पत्र व्यवहार कभी हुआ ही नहीं था। फिर भी उसने साहस कर माधवी को पत्र लिखा—प्रिय बहन,

मैं आज बड़ी मुसीबत में फँसी हूँ। यदि तुमने कभी मुझसे प्रेम किया हो और उस पवित्र प्रेम के नाम पर मेरे ऊपर कुछ दया दिखा सकती हो, तो कुछ घंटों के लिये मुझसे अवश्य मिल जाओ। जीजाजी को मेरा यह पत्र दिखा देना, वे तुम्हें यहाँ आने की आज्ञा अवश्य देदेंगे। याद रखना यदि मेरा यह अनुरोध व्यर्थ गया; तो तुम जन्म पर्यन्त सुखसे न रह सकोगी। यह समय फिर न आयगा। उनकी हालत अच्छी नहीं है, पर मुझसे मौत भी दूर भागती है। शेष मिलने पर।

तुम्हारी अभागिनी बहनः—

पुष्पा

आज सोमेश्वर को दशा सब दिन से ज्यादा खराब थी दो-दो डाक्टर नब्ज पकड़े बैठे थे! पुष्पा का मन आशा और निराशा के झूले में झूल रहा था—अब सब कुछ गया, नहीं अभी बहुत कुछ गया, नहीं अभी बहुत कुछ बाकी है, इसी तरह का तार चल रहा था। पुष्पा पागलों की तरह कभी भीतर और कभी बाहर आ जा रही थी। इसी समय रामदीन नौकर ने आकर कहा—बहूजी देखिये तो कोई आपको पूछ रही हैं।

पुष्पा झपट कर खिड़की के पास पहुँची। नीचे देखा हां वही तो है। पर यह क्या हुआ? वह जादू का-सा असर करने वाला रूप कहां चला गया? पर यह समय सोचने का न था। वह नीचे जाकर माधवी का हाथ पकड़ कर ऊपर लाई और सोमेश के पास खड़ी कर कहा—देखो; आँखें खोलो, ये जीजी आई हैं।

—आगयीं क्या? कह कर सोमेशने दृष्टि उठा कर अपने पास खड़ी हुई माधवी की ओर देखा। पर यह क्या? केवल एक बार देख कर मुंह क्यों फेर लिया? क्या सिर्फ इसलिये कि यह मुखड़ा अब आकर्षक न रह गया था? किसी भयंकर बीमारी के कारण कुन्दन सा रंग काला होकर अनेक दाग-धब्बों से परिपूर्ण था। अथवा सोमेश में अधिक देर देखने की शक्ति न रह गयी थी, या और ही कोई कारण था।

इसी समय माधवी ने पूछा अब कैसी तबीअत है?

सोमेश ने उत्तर दिया—अच्छी! वह रात कुशल से बीत गयी। अगले दिन डाक्टरों ने कहा—आज नब्ज की हालत कुछ अच्छी प्रतीत होती है। यद्यपि अभी निश्चित रूप से कुछ नहीं

कहा जा सकता, पर आज की दशा देख कर बच जाने की आशा होती है।

पुष्पा को यह हाल मालूम हुआ, तो उसने हाथ जोड़कर भगवान से प्रार्थना की—प्रभो, मैं बड़ी अभागिनी हूँ। मेरी लाज तुम्हारे ही हाथ है।

माधवी ने पुष्पा का हाथ पकड़ कर कहा—भगवान पर भरोसा रक्खो, वे सब भला करेंगे। तुम्हारा पत्र मिलते ही उन्होंने चलने की तैयारी करदी थी। किन्तु तुमने पहले से मुझे यह खबर क्यों नहीं दी कि इनकी दशा ऐसी खराब हो गयी है?

—मैं तब तक यह नहीं समझ सकी थी जीजी कि तुम्हारे आने से मुझे इतनी सहायता मिलेगी। आज तो ये कुछ अच्छे हैं। यदि इस बीमारी से छुटकारा मिल गया, तो माधवी जीजी तुम्हारा मुँह मीठा कराऊंगी।

—लेकिन पुष्पा बहन मैं तेरे घरका कैसे खा सकूंगी? तू तो मुझसे छोटी है न। सोमेश बाबू की कमाई में तेरा ही साझा है।

—नहीं, ऐसी बात न कहो। स्नेह के नाते में कोई छोटा बड़ा नहीं होता, माधवी जीजी। और फिर ये तो तुम्हारे भी हैं। तुम्हें याद नहीं, जब मुझे देखने गये थे, तो पहले तुम्हें ही पसन्द किया था।

—चुप रहो पुष्पा, ऐसी बातें मुँह से कहने की नहीं होतीं। वे पास के कमरे में हैं, सुन लेंगे तो क्या कहेंगे? ऐसी बातों से मजाक नहीं किया जाता।

—कुछ नहीं, कहते क्या? उन्होंने ही तो....नहीं, वे सब

जानते हैं। अच्छा जीजी, यह तो बतलाओ, तुम्हारी यह दशा कैसे हो गयी ? न वह रूप ही रहा और न वह गंध ही।

—क्या बताऊं पुष्पा. यदि किसी स्त्री का पुरुष चरित्रवान नहीं है, तो संसार में उसके लिये कुछ भी नहीं रह जाता। मैं बीमारी से उठी, तो····

—दवा का समय हो गया, मैं उन्हें दवा दे आऊं।

कह कर पुष्पा उठ कर चल पड़ी। यह सोचती जा रही थी कि नारी का जीवन भी कितनी बेबसी से भरा हुआ है! जीजी शायद बहुत दुखी हैं। इससे तो मैं ही अच्छी हूं, जो वे मुझसे अपने मन की बात तो कह देते हैं।

उधर माधवी बैठी सोच रही थी—पुष्पा कितनी भोली और अल्हड़ है।

दवा का डोज पीने के बाद अपने सूखे, रक्तहीन अधरों पर पुष्पा का कोमल कर धरे, आँख मूंदे हुए सोमेश किसी स्वर्गीय सुख का अनुभव कर रहे थे।

इसी समय पपीहे की दर्द भरी पुकार सुन पड़ी—पिउ कहां, पिउ कहाँ, पता नहीं उस वक्त उसका पिउ कहाँ था ? इस असमर्थ और प्यासे पक्षी के मन की साध कभी पूरी होती है या नहीं, यह कौन बतला सकता है ?

बिसाती

(१)

"ले···

सुइयां, तागे, बटन, रबड़ की चूड़ियां, ताले और मोहन-माला······!"

"अम्मां! बिसाती बोल रहा है, हम तो मोहनमाला लेंगे।" मुन्नी ने अपनी निर्धन माँ, यमुना के गले से लिपट कर कहा।

"ना बिटिया, ऐसी चीजों पर जी नहीं ललचाया करते। तू तो जानती है मुन्नी, कि हमारे पास इतने पैसे कहां हैं? दिन भर चर्खा-पूनी करने के बाद तब कहीं चार छः पैसे देखने को मिलते हैं, सो खाने का भी गुजारा नहीं हो पाता। बेटी!" मुन्नी ने देखा—यह सब कहते कहते उसकी माँ की आंखों में पानी भर आया। पाँच वर्ष की अबोध बालिका मुन्नी कुछ भी न समझ पाई। अधीर भाव से वह एक टक यमुना के सूखे हुए अधर और भीगी हुई पलकों की ओर सहमी हुई दृष्टि से देखती रह गई। इसी समय उसे फिर सुन पड़ा—"साबुन, कंघी, बालों के क्लिप, बच्चों के खिलौने!"

बालिका पल भर में सारा विषाद भूल कर दरवाजे की ओर लपकी। यमुना ने उसे डांटते हुए कहा—'कहाँ जाती है?'

[छियासी

बैठ यहीं मेरे पास।' बालिका का उठा हुआ पैर वहीं रुक गया। सहमी हुई आवाज में उसने कहा—

'अम्मा, मैं लेने की नहीं, खाली देखूँगी। तुम भी देखोगी अम्माँ!' अम्माँ को फुसलाने के भाव से मुन्नी ने कहा; जैसे कोई कैदी मुलाकात के दिन अपनी पत्नी से जरा अलग से मिलने के लिये जेलर की खुशामद कर रहा हो।

'ना, मैं नहीं देखती, और देख छूना नहीं किसी की कोई भी चीज!' जेलर की ही टोन में यमुना ने कहा।

जरा साहस कर मुन्नी ने कहा—'नहीं!' पर अम्माँ आओ तुम भी देख लो न!' अम्माँ के वहाँ जाने से जैसे उसे कुछ मिल जाने की आशा थी। 'जा, जा, तू ही देख' कह कर यमुना अपने टूटे हुए तार को जोड़ने का प्रयत्न करने लगी।

(२)

मुहल्ले के प्रायः सभी बालक अपनी-अपनी पसन्द की चीजें खरीदने लगे। स्त्रियाँ परस्पर बाजी लेने लगीं, जो प्रौढ़ा थीं वह कुछ आगे बढ़ कर एक-एक वस्तु को जाँच कर मोल तोल करने लगीं, जो अभी नवोढ़ा ही थीं, वे तनिक दरवाजे के किवाड़ों की झिरी से, ललचाई हुई दृष्टि से देख भर लेतीं और साथ ही किसी स्वतन्त्र प्रकृति की हमजोली से कहती भी जातीं, 'जरा पूछना बीबी। उस सेंदुरदानी के दाम? और वह शीशा कितने का है?' पर सास-दादस वाली बहुएँ मन मार कर बैठी रहीं, या फिर कोठे पर जाकर देखने का उपक्रम करने लगीं। थोड़ी देर में ही बिसाती दर्शकों से घिर गया, किसी ने ताश खरीदा, तो किसी

ने बच्चों का झुनझुना, किसी ने चूड़ियाँ, तो किसी ने रबर की गेंद, परन्तु मुन्नी एक ओर खड़ी, एकटक मोहनमाला की ओर देखती रही। जब बिसाती दूसरे ग्राहकों को सौदा दिखाने तथा बेचने में व्यस्त होजाता, तब वह एक बार फिर धीरे से तार में लटकती हुई माला को लालच से छू देती पर साथ ही इधर-इधर देखती भी जाती। बहुत देर तक यही क्रम चलते रहने के पश्चात् धीरे-धीरे भीड़ हटने लगी। बिसाती ने अपनी अस्त-व्यस्त चीज़ें संभालना आरम्भ किया, पर मुन्नी थोड़ी खिसक कर अब भी बैठी रही। वह एक बार फिर साहस करके चमकते हुए गुरियों की माला को छूना चाहती थी। अब की बिसाती का ध्यान बालिका की ओर भी चला गया। बोला—'कुछ लोगी क्या बिटिया?' मुन्नी ने कहा कुछ नहीं, पर दूकान के स्वामी की कोमल वाणी से उसे कुछ साहस अवश्य हो गया, माला को हाथ से भले प्रकार पकड़ कर वह बिसाती की ओर देखने लगी। कैसी भोली और मार्मिक दृष्टि थी वह। संसार के अनुभवों से परिचित बिसाती सब कुछ समझ गया। तुरन्त माला को हाथ में लेकर उसने कहा—'यह लोगी बेटी?'

'नहीं अम्मा मारेगी।'

'वह, मारेगी क्यों? लो, ले जाओ।' बिसाती ने मुन्नी को पुचकार दिया। बालिका ने अपने घर के दरवाजे पर भयभीत दृष्टि डालते हुये धीरे से कहा—'पैसे मेरी अम्मा के पास नहीं हैं।' बालिका के इस अन्तिम वाक्य ने दुनिया की नस-नस से परिचित बिसाती के भावुक हृदय को मसल डाला! वह क्षण

भर के लिये सब कुछ भूल गया। उसकी आँखों के सामने अतीत के अनेक चित्र बनने, बिगड़ने लगे। वह सोचने लगा। इस संसार में ऐसे भी हैं, जो कि अपनी छोटी से छोटी इच्छा को भी पूरा नहीं कर पाते। केवल पेट भर रोटी पाना भी उन्हें दूभर हो जाता है। उसे अपना अतीत याद हो आया। मैं एक भले घर में जन्मा, घर की खेती गँवाई, घर और घरनी भी गँवा दी। लाभ की कमाई के लालच में अपना सब कुछ खो दिया। वहाँ हज़ारों कमाये और पानी की तरह बहा दिये। और वह कितनी भोली, कितनी सुन्दर और चतुर थी। आज न जाने किस की हो गई होगी। पल भर में बिसाती का चेहरा उतर गया, पर उस की विचारधारा चलती ही रही, जब मैं चलने लगा, तो कितनी रोई थी वह। उस समय वह गर्भवती थी. बच्चा हुआ ही होगा और जिया हो तो अब ६-७ साल का होगा, लेकिन अब क्या ? अन्धी माँ न जाने कैसे और कहाँ मरी होगी। जब गया था तब सब कुछ था ; अब आया तो कुछ भी न रहा। घर की ईंट-ईंट हो गई, सोचा था, शायद वह मायके में होगी पर दो महीने हो गये इस गाँव में वैसी तो परछाईं भी नहीं देख पड़ी। मायके में यहाँ था ही कौन ? पर जाने भी दो अब इन बातों को ! स्त्री की जात का क्या ठिकाना ? सहसा बिसाती का ध्यान भङ्ग हुआ, उसकी विचार धारा टूट गई। एक ओर से आवाज़ आई—'अरी मुन्नी वहीं मर गई क्या ?' मुन्नी की माँ पुकार रही थी

'आई—अम्मां' कह कर बालिका अचानक उठ खड़ी हुई। रुंधे हुए कण्ठ से बिसाती ने कहा—'लो यह लेती जाओ बेटी !'

मुन्नी का मन मचला, पर उसे माँ की मार याद हो आई। क्षण भर रुक कर उसने दृढ़ता से कहा--'नहीं'!

'अच्छा बिटिया, तुम्हारे घर में कौन-कौन हैं?'

'अम्मा है।'

'और?'

'और तो कोई भी नहीं' बालिका ने उत्तर दिया और वह माला पर एक लालच भरी दृष्टि डाल कर भीतर भाग गई। बिसाती ठगा हुआ, कुछ झिझका हुआ सा, वहीं पर बैठा-बैठा कुछ देर तक न जाने क्या सोचता रहा। फिर धीरे-धीरे अपनी दूकान उठा कर वह चल दिया। आज उसका हृदय शान्त न था। वह चाहता था कहीं एकांत मिलता तो थोड़ी देर रोकर जी हलका कर लेता, पता नहीं अपने दुःख से या दूसरों के अभाव पर।

(२)

यमुना का हृदय पके हुये फोड़े की भांति सदा दुखता रहता था। उसे कभी आराम न मिलता सारे मुहल्ले में वही एक अभागी ऐसी थी जिसे अपना कहने योग्य कोई भी नहीं दिखाई देता था। कोई यह भी कहने वाला न था कि आज तूने पानी भी पिया या नहीं। फिर भी वह अपने परिश्रम के बल पर जीती थी और जी रही थी अपने नेत्रों की पुतली मुन्नी के लिये। स्वयं एक जून खा कर भी वह बच्ची के लिये थोड़ा बचा कर रख देती, परन्तु इधर कुछ दिनों से मुन्नी पड़ौस के बच्चों की नकल करना सीखती जा रही थी। अब वह नित नई फर्मायशें यमुना के सामने पेश करती है पर इन्हें वह बेचारी कैसे पूरा करे? या किस प्रकार

मुन्नी के मन पर ताला लगा दे और उसके कोमल हृदय को बार-बार कुचल कर भी क्या वह शान्त रह सकेगी? फिर वह क्या करे यही सब सोच कर आज यमुना के धैर्य का बाँध टूट पड़ा, उसके हृदय का रक्त आँसुओं की धार बन कर बह निकला।

बच्ची को अपने संतप्त हृदय से लगा कर दुखिया यमुना फूट फूट कर रो उठी। उसने अपने गीले नेत्र विस्तृत आकाश की ओर उठाते हुए, मन ही मन कहा—'प्रभो! अब मैं यह सब सहने की सामर्थ नहीं रखती, तुमने यह छूछा मातृत्व मेरे ऊपर लाद कर अच्छा नहीं किया।'

पता नहीं भगवान इसी समय इस दुखिया की शान्ति के लिये कौन सा उपाय सोचने लगे। उसी रात में मुन्नी को तेज बुखार हो गया, वह ज्वर की बेहोशी में माता से कभी-कभी अब भी कह देती थी—

'अम्मां रोओ नहीं, मैं अब कुछ नहीं लेने को!' माँ ने प्यार से उसकी अलकों को सँवारते हुए कहा—'तू अच्छी होजा चाँद! मैं जैसे भी होगा तुझे माला ले दूंगी।'

(४)

मुन्नी के बचने की अब कोई आशा नहीं, फिर भी माँ का का हृदय आशा और निराशा के झूले में झूल रहा है। आज चार दिन से बालिका आँखें बन्द किये पड़ी है, यमुना का हृदय फटा जा रहा है, वह इस समय अपने प्राण दे कर भी मुन्नी के प्राण बचाना चाहती है। आज उसकी दृष्टि में पास पड़ोस के सभी बाल-वृद्ध अपने हैं। छोटे से छोटे बच्चे की बात भी वह

मान लेने को तय्यार है, यदि कोई बच्ची के प्राणों की रक्षा का कुछ उपाय बता दे। मुहल्ले के एक सज्जन वैद्यजी को ले आये, यमुना ने उनके पाँव पकड़ कर विनती की—'किसी प्रकार मेरी बच्ची को बचालो'

वैद्यजी ने नाड़ी परीक्षा, नेत्र परीक्षा और न जाने कितनी परीक्षाएं करने के उपरान्त गम्भीर मुद्रा धारण करके कहा—'लड़की को सन्निपात हो गया है। स्थिति गम्भीर है। दवा देता हूँ, पर कुछ आशा नहीं है।'

सब ने एक दूसरे की ओर देखा, आँखों ही आँखों में कुछ कहा और समझा। यमुना ने भी यह देखा और अनुमान से कुछ समझा भी। वह आपे में न रही, उसने धम्म से दीवार में सिर दे मारा। 'अरी चिड़िया, इस प्रकार मुझे छोड़ कर न जा। मुन्नी नाराज न हो, मैं आज भीख माँग कर भी तेरे लिये माला ले दूंगी, अरे बिसाती को तो आ जाने दे!' कहते-कहते वह बच्ची के मुँह पर मुँह रख कर पागलों की तरह प्रलाप करने लगी। किसी के नेत्र सूखे न रहे। जीवन के अभावों से भरी, और व्यथा के सागर में डूबी यमुना के प्रति समाज दो बूंद आँसुओं का लालच न दिखा सका। जो उसके घर से निकला, आँखें पोंछता हुआ। धीरे-धीरे सब चले गये, केवल यमुना और उसका दुःख रह गये सारा दिन बच्ची का मुँह एवं स्वाँस की गति देख कर ही यमुना ने बिता दिया। माँ का हृदय उतना अनिष्ट न सोच सका जितना कि और सब अनुमान कर रहे थे। यमुना मन में कोई दृढ़ संकल्प-सा करके मृत्यु-शैया पर पड़ी हुई अपनी आँखों की

पुतली के सामने बैठी रही। उसकी आशा मचल रही थी, विश्वास डगमगा रहा था और भरोसा सिसकारियाँ भर रहा था, पर उसका वात्सल्य उसे सम्हाले था। धीरे-धीरे सूर्य अस्ताचल की ओर जाने लगा। सहसा मुन्नी को बड़े जोर की हिचकी आई। यमुना को ऐसा जान पड़ा मानो उसका सर्वस्व उसकी आँखों के सामने ही लुट रहा है। हृदय में कोई तपती हुई शलाकाएं छेद रहा है। फिर भी अभी कुछ बाकी था।

इसी समय द्वार पर किसी के कंठ की ध्वनि सुन पड़ी। 'बिटिया लो यह माला ले जाओ।' 'कौन ? बिसाती ! अरे, तुम उस दिन से फिर क्यों नहीं आये ? मैं तुम से भीख माँगती हूँ, अपनी वह माला देकर मेरी बच्ची को बचाओ।' कहती हुई यमुना दरवाजे की ओर गिरती पड़ती भागी, पर चौखट पर पैर रखते ही वह बेहोश हो, गिर पड़ी।

यमुना को देख कर बिसाती चौंक पड़ा—

'कौन ? ममू ! हाय तेरे लिये न जाने मैं कितनी खाक छान चुका, और तू यहीं थी !' बिसाती ने यमुना को उठा कर आंगन में पड़ी हुई चारपाई पर लिटा दिया। वह आशा छोड़ चुका था, पर उस की प्यारी 'ममू' उसे मिल गई। उसे क्या पता था कि हरी भरी लतिका को वह इस प्रकार उजड़ी हुई भी देखेगा। ५-७ साल के दीर्घ समय ने कितना उलट फेर कर दिया। विषाद की ज्वाला और वियोग की पीड़ा में झुलस कर फीका पड़ जाने पर भी वह रूप आकर्षक था। वह सब कुछ भूल गया। उसे क्या पता था कि इस सुख के पीछे काली चादर भी तनी हुई है।

गली में उसकी दूकान को अकेली पाकर बालकों ने लूट मचानी आरम्भ कर दी, और घर में मृत्यु ने डाका डाल दिया। बिसाती ठगा हुआ सा एक टक यमुना के मुँह की ओर देख रहा था।

अनेक यत्न करने पर यमुना को कुछ होश हुआ, पर 'ठहर जा बिटिया, ले मैं ये माला ले आई, अब तू थोड़ा हँस तो दे बच्ची !'—कह कर वह अपनी चारपाई से नीचे आ गिरी।

बिसाती ने फिर उसे अपनी बलिष्ठ भुजाओं में सँभालते हुए कहा—'यह क्या पागलों की तरह प्रलाप करती हो ममू ! मुन्नी तो शायद फिर भी मिल सकेगी पर मैं तुझे कहाँ पाऊँगा फिर ?'

बहुत दिनों की पूर्व परिचित ध्वनि सुन कर यमुना के नेत्र बिसाती के मुख पर जा जमे। क्षण भर में परस्पर दृष्टि मिल गई। फिर दोनों एक होकर रो पड़े।

ज्वर उतरा। दोनों ने चारों ओर देखा। मृत्यु थपकियाँ देकर बालिका को सदा के लिये सुला चुकी थी और वह माला द्वार पर पड़ी, अब भी सिसकियाँ ले रही थी।

———

[चौनरावे

शशांक

१

सारा घर एक अजीब किस्म की गंध से भर रहा था। शशांक ने रसोई घर के दरवाजे पर खड़े होकर देखा—सचमुच ही चूल्हे पर रक्खी हुई कोई चीज जल रही है, और पतीली में से धुआँ निकल कर मन और मस्तिष्क की शान्ति को चाटे जा रहा है। एक बार चारों ओर दृष्टि फिरा कर देखा तो—पास वाले घर में गृहिणी बालों में कंघी करती हुई दीख पड़ीं। शशांक अपनी सहनशीलता के लिये विख्यात थे, किन्तु इस समय……… इस वक्त पता नहीं कि दफ्तर को जाने के लिये देर हो गई थी इसी से—या और किसी कारण वश झुँझला कर बोले—'मैं जा रहा हूँ, तुम खाती पकाती रहना।' और फिर जल्दी से घर के बाहर निकल पड़े।

रास्ते भर सबेरे लिखी हुई कविता की पंक्तियों को बार-बार याद करने की चेष्टा करते हुए भी, एक भी पंक्ति ध्यान में न आई, मन और शरीर की गति किधर की किधर अनायास जा रही थी। आज दिन भर जुटे रह कर भी उन्होंने क्या किया? यह सब शशांक की समझ में खाक न आया। जब वह घर लौटे तो भूख बड़े जोर की लग रही थी, मन अब भी अशान्त था।

सामने के दालान में बैठा हुआ बड़ा बच्चा कापी पर फैली

हुई खूब सी स्याही को कपड़े से सुखाने की चेष्टा में संलग्न था, और मुन्नी आगन में बैठी बिल्ली के बच्चे के मुँह में जबरन भात ठूँस रही थी, तथा नौकर जीने की सब से चौड़ी सीढ़ी पर पड़ा सो रहा था, गृहिणी का कहीं पता नहीं।

मुन्नी से मालूम हुआ कि उसकी अम्मां किसी के घर गई हैं। शशांक ने देखा—चूल्हा चौका सब लिपा पुता पड़ा है—'तो क्या खाना बहुत जल्दी ही बना कर रख गईं? सोचा होगा—सबेरे कुछ खाकर नहीं गए......। फिर हरिया को जगा कर कहा—'उठ तो हरी! जल्दी थाली परस ला, मुझे आज बहुत काम करना है। ला कमरे में ही ले आ......। शशांक नल पर हाथ मुँह धोने लगे, और हरी आँखें मलता हुआ कहने लगा—'भात जौन बचा रहा, सो बढ़के भइया खाय लीन्ह, अबै बन का गवा जौन लै आईं?'

शशांक ने क्षण भर कुछ सोचा—और फिर हरीसिंह के सिर में एक चपत जमा कर कहा—'चूल्हे में आग सुलगा कर चाय के लिये पानी कर जल्दी......।' नौकर चूल्हे में फूं-फूं करने बैठ गया—और वह बिस्तर पर जा पड़े। आज वह बहुत ही खिन्न और उदास थे, जब से होश सँभाला—एक दिन भी शशांक को ऐसा याद नहीं, जिस दिन वह अपने को सुखी मान सके हों। बचपन में ही माँ के स्नेह से वंचित हो गये, और......और जब से गार्हस्थ जीवन में प्रवेश किया, तब से तो तिल-तिल कर के जलते ही रहे। उसे याद आया— जिन दिनों वह कालिज में पढ़ते थे, वह दिन अवश्य ही कुछ सुखकर थे, लेकिन उसके बाद वह

जैसे पागल हो जायँगे, आखिर तो मनुष्य ही ठहरे न ? उसके मन में भी एक साध थी—नई उमंगें भी थीं, अभी उम्र ही क्या है ? बहुत होगी तो मुश्किल से २४ या २५ साल। पढ़-लिख कर जल्दी ही नौकर हो गये, और महीने में कमाते हैं पूरे एक सौ रुपये। किसी बात का अभाव नहीं—किसी का कर्ज उधार देना नहीं, न किसी को हिसाब-किताब ही देना सुनाना है—वह बिलकुल स्वतन्त्र हैं—और दूसरों की दृष्टि में सुखी भी कम नहीं हैं, किन्तु फिर भी वह दुखी हैं—असन्तुष्ट हैं—और हैं अपनी दृष्टि में बिलकुल अकेले।

इसका कारण ? कारण हैं वह स्वयं, और उनकी पत्नी सावित्री। उन्हें खूब याद है, जब वह एफ० ए० पास करने की तैयारी में थे तभी उनका विवाह एक बिन जानी पहचानी लड़की के साथ कर दिया गया। उन्होंने सुना था कि दान-दहेज बहुत आया है—पर यह किसी से नहीं सुन सका कि बहू कैसी है ? रूप और गुणों का पता उन्हें तब लगा—जब पूरे तीन वर्ष बाद गौना हुआ। तब वह बी० ए० भी कर चुके थे। गर्मियों की छुट्टियों में पूरे दो महीने वह घर रहे—नया जीवन प्राप्त हुआ था—वह तिल-तिल कर के उसका अध्ययन कर उसी में डूब जाना चाहते थे—पर ऐसा न हो सका। उनकी सारी कल्पनाएँ धूल में मिल गईं, सारे अरमानों में आग लग गई। मन की साधें पनपने के पहिले ही सूख गईं। शशांक ने देखा—उसके सामने जो एक दुबली-पतली, साँवले रंग और नाटे कद की लड़की खड़ी है, वह कदापि उनके योग्य नहीं थी, पर अब क्या हो

सकता है ? वह इसे किसकी कृपा समझें ? अथवा, अपने ही भाग्य का दोष मान कर संतोष कर लें। वह निराश हो गये पर हताश नहीं। सोचा—यदि यह गुणवती है तो रूप न सही। गुण स्थाई सौंदर्य है—और रूप क्षणिक। मनुष्य का स्वभाव है कि वह यदि परिस्थितियाँ उसके अनुकूल नहीं होतीं—तो स्वयं परिस्थितियों के अनुकूल बनने का यत्न करते हुए थोड़ी शान्ति और संतोष का सहारा खोजने लगता है।

—२—

'चाय का पानी हो गया बाबूजी !' हरिया ने मालिक की विचार-धारा पर आघात करते हुये कहा—शशांक जैसे सोते से जाग पड़े—पूछा—'बहूजी आ गईं रे !'

'नहीं तो सरकार ! जाऊँ...., बुला लाऊँ ?' नौकर ने सतर्कता से कहा।

'नहीं, चाय का पानी नाली में फेंक दे, और न जाकर फिर सोजा—मैं चाय नहीं पिऊंगा।' वह उद्विग्न थे। हरिया ने एक बार मालिक की ओर भयाकुल दृष्टि से देखा—और फिर कुछ ही क्षण पहिले खाये हुए चपत की याद कर के चुपचाप जाकर रसोई घर की देहली पर बैठ गया।

शशांक की विचारधारा का क्रम फिर ज्यों का त्यों चलने लगा—अन्तर केवल इतना ही था कि विगत से वर्त्तमान में वह धीरे-धीरे लौट आये। सोचा—प्रायः एक युग होने आया, तब से बराबर ही वह सावित्री के सुधार की कोशिश में रहे—किन्तु परिणाम कुछ भी नहीं निकला। न उन्हें ठीक से

खाना बना कर खिलाना आया, और न घर को ढंग से रखने का सलीका। बच्चों की भी परवाह नहीं करती अपनी टीप टाप का भी कोई क्रम और समय नहीं। आखिर यह किस धातु की बनी हुई है जाने, पशु पक्षी भी सिखाने पढ़ाने से कुछ सीख जाते हैं पर यह तो जैसी थी वैसी ही है और रहेगी। कुत्ते की पूंछ को बारह वर्ष तक किसी ने नली में बंद रक्खा, पर जब निकाला तब उसे टेढ़ी ही पाया ऐसी गृहिणी से तो नौकर भला, कम से कम ममता न सही डर से ही सही पेट भर खाना तो बनाकर खिला ही देगा ? यहाँ कभी दाल में नमक तेज है तो कभी बिलकुल नहीं, कभी रोटी जली हुई है तो कभी बिलकुल कच्ची, सो भी समय पर नहीं मिलती, अक्सर भूखे ही जाना पड़ता है और लौट कर देखो तो श्रीमती जी घूमने गई हैं, मानों उनकी दृष्टि में पड़ौस की स्त्रियों से गप लड़ाना जरूरी है, इसका ध्यान रखना जरूरी नहीं कि कोई भूखा प्यासा लौट कर आयेगा, उसके पेट में भी आग लगानी है या नहीं ? बच्चों को सबेरे का बचा भात ही काफी है। बीमार पड़ेंगे तो डाक्टर के यहाँ उन्हें तो जाना नहीं पड़ेगा जो रात दिन भर खप कर पैसा कमाता है वही यह भी आफत उठाता—फिरे इससे उन्हें क्या ?

सोचते २ शशांक का मन और मस्तिष्क थकसा गया। वह उठ कर बाहर आये, सूर्य पच्छिम में डूब चुका था, आकाश पर अंधेरा था, संध्या बीत चुकी थी, अब रात्रि का प्रथम चरण धरातल पर प्रवेश कर रहा था, ठीक इसी प्रकार शशांक के अन्तर

बाहर में भी घोर अंधकार छाया हुआ था। उन्होंने बत्ती जलाई और देखा दोनों बच्चे फर्श पर ही बैठे २ सो गये, उन्होंने भी कुछ नहीं खाया ? इतनी सी ही बात याद करके युवक की आंखें भर आईं, बच्चों को उठाकर खाट पर सुला दिया, फिर रसोई घर में झाँक कर देखा हरी ने दूध उबाल कर रख दिया है और चूल्हे पर चाय का पानी अभी भी खौल रहा है। उन्होंने चाय बनाई, बच्चों को उठाकर पिलाई, खुद पी और बाकी बची हुई नौकर के हवाले करदी। फिर घर के कोने २ का निरीक्षण किया। कहीं बच्चों के कपड़े फैले पड़े हैं तो कहीं खुद श्रीमती जी की धोतियां ऐंठी मैंठी पड़ी हैं। एक कोने में दाल के चोंपे सड़ रहे हैं, तो दूसरे में राख और कोयलों का ढेर पड़ा है। एक ओर सब्जी का छीलन हीं भिनक रहा है और शायद महरी की ही लापरवाही से नाली में पड़े हुए रोटी के टुकड़े और दाल भात का ढेर मक्खियों को निमंत्रण देरहा है। शशांक का जी ऊबने सा लगा। उन्होंने हरिया के कान पकड़ कर एक २ करके वह सब दिखला दिया, और खुद जल्दी २ कपड़े पहन कर घर से बाहर निकल गए। एक बार मन में आया कि दरवाजे का ताला लगा चलें किन्तु कुछ सोचकर ऐसा नहीं किया। सड़क पर खड़े होकर क्षण भर सोचा कहाँ जाऊं ? फिर तुरन्त ही उनके पैर उस ओर बढ़ चले जिधर उनका बचपन का साथी अरुण रहता था।

—३—

अरुण की बहिन आभा आई, और करीने से खाना मेज पर

[सै

सजा कर चली गई। बाद में नौकर आया और दो गिलास पानी रखकर चला गया। अरुण ने देखा आज शशाँक बहुत खिन्न है। खाना खाने के लिए तो किसी प्रकार भी तैयार नहीं होता··· क्यों, यह लाख बार पूछने पर भी नहीं बताया।

"उठिए, खाना तो पड़ा २ ठंडा हुआ जा रहा है, भइया!" आभा ने वीणा विनिन्दित स्वर से अरुण को सम्बोधन कर कहा। "यह उठते ही नहीं, पूछा— खाना खा आये? तो कहते हैं नहीं। कहा—खालो, तो भी नहीं। जाने आज कैसे होरहे हैं? अरे भाई! आखिर बात क्या है? भाभी से झगड़ा कर आये क्या?' अरुण ने शशाँक के कंधे पर हाथ रखकर पूछा। वह उठ कर खड़ा होगया—'लो नहीं बैठने देते तो जाता हूँ।'

"नहीं-नहीं बैठो—अच्छा जाने दो नहीं खाते तो····।" अब की अरुण भी अधीर हो उठा। फिर आभा से कहा—"मेरे लायक रहने दो-बाकी चीजें उठालो····।"

"वाह, उठा क्यों लूँ? यह अवश्य खायेंगे···. इन्हें खाना ही पड़ेगा···नहीं तो कोई भी नहीं खायेगा···।" कह कर आभा ने खाने की मेज और थोड़ी पास खींच ली। फिर बोली—'ठहरिये सब ठंडा होगया और ले आऊँ पूरियां तो जैसे पानी में ही डूबी हुई सी दीख रही हैं।'

वह दोनों मौन थे, स्तब्ध थे। बालिका स्नेहमयी रमणी के समान आग्रह करके, हठ करके और ····और यत्न करके खाना खिलाने लगी- अरुण चुपचाप खा रहे थे और शशांक····वह उन का साथ दे रहे थे, विशेष आग्रह की अवहेलना करना मनुष्यता

के प्रतिकूल है—यह वह जानते थे।

हाथ धोकर दोनों मित्र 'रेडियो' के पास जा बैठे। आभा पान इलाइची ले आई। अरुण रेडियो सुनने में व्यस्त थे। शशांक उनके घर की एक २ चीज पर निगाह डालकर सोच रहा था– "कितने ढंग और सफाई के साथ रहते हैं, यह लोग। और एक हम हैं– जैसे तेली तम्बोली का घर हो। पारसाल नया पंखा खरीदा था, वह भी आते ही श्रीमती जी की कृपा से टूट गया। "रेडियो' तो अब ठीक कराने के लिए भेज ही दिया है पर फिर क्या ? फिर वही हाल होगा''''कितनी फूहड़ ? कितनी मूर्ख ? उफ! शशांक का दम घुटने लगा—उन्होंने एक बार''''केवल एक ही बार, आभा को अपनी बराबर खड़े करके देखना चाहा, पर जैसे इस कल्पना से उनका सिर घूमने लगा। लज्जा और आत्मग्लानि से उनका मन बोझल सा हो उठा। तुरन्त ही उठकर खड़े हो गये और फिर एक क्षण भी बिना रुके कोठी से बाहर निकल आये।

४

घर आकर शशांक ने देखा जैसे यहाँ कोई रहता ही नहीं। कुत्ता आँगन में पड़े दूध के बर्त्तनों को चाट रहा है, और रसोई घर में चूहे दौड़ लगा रहे हैं। आधी रात का सन्नाटा दीख रहा है और समय है केवल ९ बजे का। श्रीमती जी खर्राटे ले रही हैं, उधर दरवाजे पर बैठा हरी शायद उन्हीं के इन्तजार में बैठा २ ऊँघ रहा है। गृह स्वामी ने उसे उठाया और कहा–'दरवाजा बन्द करके जाकर सो जा।' फिर स्वयं भी सोने का उपक्रम

करने लगे। पता नहीं कब सोये? जब सुबह उठे तो सिर बहुत भारी था, शरीर टूटा सा जारहा था– लेकिन दफ्तर तो जाना ही था। जल्दी २ तैयार होकर जरूरी कागजात मंगवाने लगे– तभी सावित्री ने आकर कहा—'खिचड़ी बनादी है इस वक्त तो मन करता हो तो खाजाओ....? रात तो पता नहीं कि कहां चले गये थे और कब लौटे? मैं तो मुंशी जी के यहां गीतों में चली गई थी वह सब जिद करके कहने लगीं कि खाना खिला कर जाने देंगे...., इसी से देर होगई थी। घर आकर मालूम हुआ कि कहीं चले गए हैं? तबियत ठीक नहीं है क्या? आखें तो बड़ी चढ़ी २ सी होरही हैं।'

एक साथ ही पत्नी के मुँह से इतनी लम्बी, और बिना किसी अर्थ की वक्तृता सुनकर शशांक को बुखार सा चढ़ आया। बोले– "तुम तो वहां खाआईं, और यहां सब के खाने का क्या इंतजाम कर गई थीं?' किन्तु गृहिणी ने बिलकुल साधारण स्वर में कहा— "हरी कहता था कि बच्चों ने और तुमने चाय पीयी है, मैंने सोचा कि अब खाना क्या खाया जायगा? नहीं तो कुछ बना ही देती। और हाँ, मुंशी जी की लड़की के लिये जो बुन्दे बने हैं उनका नमूना मैं ले आई हूँ, न हो लेते जाओ। किसी सुनार को दिखलाते आना। वैसे बनवाना चाहती हूँ।' शशांक ने एक बार हूँ, कह कर गृहिणी की ओर देखा। उनका हृदय घृणा से भर गया, माथे पर लगी हुई सेदुंर की बेंदी बिगड़ कर नाक पर एक चौड़ी रेखा खींचती हुई फैल गई थी। आँखों में काजल के साथ साथ ढीड़ भी कम न थी, और पान की लाली होठों की सीमा को

पार करके ठोड़ी तक आगई थी। धोती का अगला छोर जमीन नक लटक रहा था और उसमें हल्दी से लेकर पान तथा कालिख के अनेक दाग जहाँ तहाँ दीख रहे थे। उन्होंने फिर दुबारा उधर नहीं देखा, साइकिल उठाई और चले गये। सावित्री को चूल्हे पर चढ़ी हुई खिचड़ी का ध्यान ही न रहा, वह बुन्दों के नमूने में इतनी व्यस्त रही। जब ध्यान आया तब वह बहुत दूर पहुँच चुके थे। उधर शशाँक जाते थे रास्ते भर सोचते, 'लोग यदि स्वर्ग में रहते हैं, तो रहा करें। मैं नर्क का कीड़ा हूँ, मुझे नर्क ही में रहना है। स्वर्ग की हवा मुझे माफिक नहीं आ सकती। मैं अब नर्क ही में जी कर, नर्क में ही मरूँगा, मेरे लिये और कहीं भी स्थान नहीं है। मैं अपने ही बंधनों में इस प्रकार जकड़ा हुआ हूँ कि तिल भर भी हिल नहीं सकता। घरवालों के और बाहर वालों के, जाति के और समाज के इतने अभिशाप मेरे माथे पर लदे हुए हैं कि उनका भार मुझे जीवन भर ढोना ही है। चाहूँ तो एक क्षण में उतार कर फेंक सकता हूँ, पर मैं वैसा कर नहीं सकता। क्यों? क्योंकि मैं दुर्बल हूँ, असहाय हूँ और……और कर्तव्य समझता हूँ, इसलिये शायद मनुष्य भी हूँ।

मनुष्यता निरन्तर सिर धुन कर पछाड़ें खाती रहती है, और पशुता उसे पैरों रौंद कर करती रहती है अट्टहास।।

एप्रिल-फूल

[१]

कितने ही फूल-से बच्चे गँवाने के बाद तब कहीं जीजी ने प्रमोद का मुंह देख पाया था। और शायद इसीलिए उनके परिवार में वह एक विशेष स्थान पा गया था। मानों सब उसी का मुख देख कर जीते थे। अधिक लाड़-प्यार होने पर भी प्रमोद बिगड़ा हुआ लड़का न था। चतुर, मिलनसार और उदार हृदय-वाला प्रमोद घरवालों के अतिरिक्त बाहर वालों का भी दुलारा बन गया था।

यह उसका बीसवाँ वर्ष चल रहा था। बी० ए० की परीक्षा में सफल होने की पूर्ण आशा भी थी। इसी वर्ष एक कुलीन घराने की सुन्दर, स्वस्थ और सुशिक्षित कन्या से उसकी सगाई भी होगई। विवाह का केवल एक मास रह गया। यह सब कार्य प्रमोद के बाबा द्वारा हठ पूर्वक किये गये आग्रह से, चलती फिरती मशीन की नाईं सम्पन्न होने लगा। जीजी तथा जीजा जी आदि किसी में भी उनकी बात टाल देने का साहस न था। यदि वह प्रमोद का विवाह अपनी आँखों से न देख सके, तो उनका जन्म अधूरा ही रह जायगा। प्रमोद के बाबा को ऐसा ही विश्वास हो गया था।

प्रमोद जब मैट्रिक पास करने के उपरान्त कालेज में दाखिल

होने ही वाला था, तभी मेरा सौभाग्य सूर्य अस्त हो गया। उस घर से मैं चारों पल्ले और दोनों हाथ झाड़ कर मैके चली आई, शायद सदा के लिये ही। उस समय मेरी आयु बीस वर्ष के लगभग रही होगी। प्रमोद था पन्द्रह-सोलह साल का। उनके गाँव में कालेज न था, इसी से नानी के पास रह कर वह पढ़ने लगा। और तभी मेरी उसकी इतनी घनिष्टता बढ़ गई कि मौसी का नाता पीछे ही छूट-सा गया और हम दोनों भाई-बहन की भाँति ही रहने लगे। उसका नाम मैंने बड़े दुलार से रख लिया था जुगनू। प्रायः इसी नाम से मैं उसे पुकारा करती हूँ। जुगनू के विवाह में जाने के लिये मैं स्वयं बहुत उत्सुक थी, फिर जीजी और अम्मा का भी तकाजा कुछ कम न रहता था; परन्तु मनकी बात छिपाकर मैं केवल उन्हें चिढ़ाने के लिये ही कह उठती—"मैं नहीं जाऊँगी किसी के विवाह में।'

अम्मा कहतीं—"भला, यह कैसे हो सकता है ?'

मैं उत्तर देती—'तुम्ही तो कहती हो कि खेल तमाशों से मन को दूर रख कर भगवान की भक्ति में मन लगाना चाहिये। नित्य उपदेश सुनते-सुनते मेरे तो कान पक गये और मन खेल तमाशों से दूर होगया।'

यद्यपि यह सब मैं कह देती थी; किन्तु यह असम्भव था कि मैं जुगनू के विवाह में न जाऊं। इस बात को स्वयं जुगनू भी जानता था, क्योंकि एक दिन उसने अपने माथे पर हाथ धराकर मुझसे शपथ ले लीथी कि मैं अवश्य ही उसके विवाह में जाऊंगी। जुगनू की दुलहिन को देखने का चाव मेरे मन में किसी से कम

थोड़े ही था किन्तु इस बात को कोई तीसरा व्यक्ति नहीं जानता था और नित्य जाने-आने के विषय को लेकर घर में वाद विवाद हुआ करता। धीरे-धीरे विवाह का दिन निकट ही आ गया। खूब धूम धाम से तैयारियाँ होनी आरम्भ होगईं।

[२]

उस दिन हमारे यहाँ माढ़ा था। जीजी के बहुत से कुनबे वाले और नातेदारों की दावत थी। मैंने सोचा था कि जल्दी-जल्दी स्नान-ध्यान से अवकाश पा लूँ, आखिर जीजी का हाथ बंटाना ही चाहिये। सिरके बाल अभी गीले ही थे। मैं उन्हें जल्दी से सुखा कर बाँध लेने की इच्छा से ऊपर चली गई। अभी बालों में तेल ही लगा पाई थी कि जीजी की आवाज सुन पड़ी— 'अखिला! क्या नीचे न उतरेगी? देख तो कितना काम पड़ा हुआ है।'

खुले माथे ही मैं जीने की ओर दौड़ी। देखा, ठीक सामने ही चिड़ीतन के गुलाम-जैसी सूरत-शकल का एक पुरुष खड़ा मेरी ओर बड़ी विचित्र दृष्टि से देख रहा है। उसका धूसर रंग तो बिलकुल उबले हुए सिंघाड़े जैसा ही मुझे दीख रहा था। तिस पर नाक थी बिलकुल चपटी। आयु तीस वर्ष के ऊपर ही होगी-सम्भव है कि चालीस तक पहुँच गई हो। मैं कुछ डर-सी गई— कुछ तो एक अपरचित व्यक्ति को इस प्रकार दृढ़ता से सामने खड़ा देख कर और कुछ उसकी दृष्टि से। यह तो मैं मान ही नहीं सकती थी कि वह कोई घर का सेवक होगा, जो मुझे बुलाने के लिये ऊपर भेजा गया हो। कारण, प्रथम तो उसकी

हिम्मत एक साधारण नौकर से बहुत बढ़ी-चढ़ी जान पड़ती थी, दूसरे वेष-भूषा भी असाधारण थी। चूड़ीदार पाजामे पर डिजाइनदार कपड़े की अचकन तथा मोज़ों के ऊपर पम्प शू! भला बेचारे अल्प वेतन सेवक को क्यों कर प्राप्त हो सकते थे।

यहाँ आये मुझे कुल चार ही दिन हुए थे। यहां के लोगों से भलीभाँति परिचित न थी, और इन महाशय को तो आज तक देखा ही न था! यह पूछने की भी हिम्मत न हुई कि, तुम कौन हो? क्या चाहते हो?' जीने के चौखट तक आगई; पर रास्ता बन्द था। मेरा मन बल्लियों उछलने लगा। यदि रास्ता दीख पड़ता, तो कदाचित् छज्जे पर से नीचे ही कूद पड़ती। मेरी घबराहट और बेचेनी को देख कर ही शायद वह हँस रहा था। अब मुझे वास्तव में कुछ क्रोध हो आया। मन-ही-मन अपने को धिक्कारा भी—'क्या इसी साहस और वीरता पर हम भारत की देवियाँ अपने आदर्श की दुहाई दे डालती हैं? क्या इसी शक्ति पर हम स्वतन्त्रता की इच्छुक हैं?' और फिर बिना किसी सिलसिले के कह उठी—'तुम कौन हो जी? इस प्रकार हँसते क्यों हो? मैं यहाँ अकेली हूँ, और तुम वैसे ही चले आये।'

वह और भी हँस कर बोला—'आप ही को बुलाने आया था; पर यहाँ आते ही भूल गया। आपको भाभी बुला रही हैं।'

इतना कहकर वह नीचे उतर गया। मेरा मन हवा में उड़े पत्ते की तरह विचारों की आँधी में डाँवाडोल हो उठा। मैं कितनी मूर्खा हूँ? किसी भले आदमी के विषय में इतनी जल्दी गलत धारणा बना लेना क्या उचित है? यह तो कोई उतने गैर

भी नहीं। जीजी को अपनी भाभी ही तो बतलाते हैं। यह सब सोचा और भी कुछ सोचना चाहा; पर मन शान्त न हुआ। कुछ भी निश्चय न कर सकी कि इस नवीन व्यक्ति के विषय में मैं कौन-सा विचार दृढ़ बनाऊँ ? और न यही कि उसके विषय को ही मन से दूर कर दूँ। उस व्यक्ति की विषैली दृष्टि मुझे उसके प्रति घृणा के भाव मनमें लाने के लिए बाध्य कर रही थी। नीचे आते ही सबसे पहला प्रश्न मैंने जीजी से यही किया—'यह कौन था, मुझे बुलाने के लिए जिसे तुमने ऊपर भेज दिया था ? मैं तो आप ही आ रही थी।'

वे बोलीं—'वह मेरे देवर हैं, अखिला ! बेचारे बड़े सज्जन हैं। जब से घर वाली मरी है, संसार से ही नाता तोड़ लिया। दूसरा विवाह तक नहीं किया। अपना अधिक समय पूजा-पाठ तथा गंगा-स्नान में ही बिताते हैं। चार दिन से बड़ी दीदी को लेने बाँदा गये थे। आज ही तो अभी-अभी लौटे हैं। आजकल के जमाने में ऐसा भजन-पूजन किससे बनता है ? अभी वैसी उमर ही क्या है; पर रात-दिन गीता-रामायण पढ़ा करते हैं। मैं तुम्हें आवाज दे रही थी, तभी पूछने लगे—'क्या अखिलेश्वरी आ गई ? मैं बुलाये लाता हूँ। कह कर ऊपर चले गये थे।'

जीजी यह सब कहती गई, और मैं चुपचाप सुनती रही; किन्तु मेरे मन को तनिक भी सन्तोष न हुआ। जीजी के देवर मोहन बाबू के विषय में बहुत-कुछ सुन रखा था। अब उन्हें भली भाँति देखने का अवसर मिला था; किन्तु चेष्टा करने पर भी मेरा मन जीजी के विचारों के अनुकूल न बन सका। इस

विषय को लेकर तर्क करने की तनिक भी इच्छा न थी। अस्तु, आँगन में पड़ी हुई ढेर-सी सब्जी को चुपचाप सँवारने लगी। मन-ही-मन यह भी सोचती जाती थी—'गीता और रामायण को खाली पढ़ने-भर से ही कोई आत्मज्ञानी कदापि नहीं हो सकता।'

[३]

निरन्तर बुद्धि से तर्क करते-करते हमारा मन कभी-कभी अनावश्यक और बिलकुल निठल्ली बातों की ओर हमें अनायास ही खींच कर ले जाता है और बिना सिर-पैर की उलझन में डाल देता है। जैसे-जैसे मोहन बाबू का बढ़ता हुआ आदर-सत्कार मैंने इस घर में देखा, वैसे-वैसे मेरी इच्छा उनके विषय में अधिक जानने की हो उठी। मैंने देखा कि घर का प्रत्येक प्राणी उनकी इच्छा पर बिका हुआ है। जहाँ वे पैर रखते है, वहाँ सब सर रखने को तैयार रहते हैं। छोटे से लगा कर बड़ों तक के लिए उनकी आज्ञा का नम्बर शायद ईश्वर की आज्ञा से दूसरा ही है। वास्तव में मोहन बाबू का अपना व्यवहार भी प्रत्येक प्राणी के साथ अनोखा ही है। बच्चों से लेकर बूढ़ों तक तथा वृद्धाओं से लेकर युवतियों तक को उनकी बातों में रुचि है। यदि किसी के अंग में सुई गड़ने की पीड़ा मोहन बाबू के फावड़ा लगने पर कम हो सकती हो, तो वे उसके लिए भी सहर्ष तैयार रहते थे। घर और मोहल्ले वालों की तो बातें ही क्या, नाई-धोबी से लगाकर घर की पनिहारिन तक का दुखड़ा दूर करने की सामर्थ उनमें है। तन मन-धन से परोपकार करने में वे सदा संलग्न रहते जान पड़ते हैं। घर-मोहल्ले के छोटे-छोटे बच्चे

ठाकुरजी का भोग-प्रसाद पाने के लालच से उन्हें शहद की मक्खियों की भाँति घेरे रहते हैं।

मैंने देखा कि जुगनू भी उनका यथेष्ट आदर करता है। शायद इन्हीं सब कारणों से हृदय में निरन्तर उठते द्वन्द्वों तथा विरोधी विचारों को दबाने का यत्न करते हुए मैंने भी उनके प्रति श्रद्धा के भाव जाग्रत करने का यत्न किया। अपने को बहुत-कुछ धिक्कारा भी कि किसी के विषय में बुरे भाव मन में लाना अपने को ही गिरा देना है। बिना सोचे-समझे किसी भले आदमी के चरित्र पर टीका-टिप्पणी करना उचित नहीं।

अब मैं मोहन बाबू को सामने देख कर भागती न थी। जीजी के कहने पर अब उनके लिये पान लगा देने में भी मुझे वैसा संकोच न था। प्रायः उनके लिए बादाम का निशास्ता बनाने में भी जीजी की मदद कर देती थी। मैं यह जानती थी कि मोहन बाबू भी अनावश्यक रूप से मुझसे बातचीत करने में अधिक भाग लेते थे। 'तुम्हारे शहर में पक्की सड़कें अब अधिक बन गई हैं, बिजली और पानी का भी खूब आराम है, तुम्हारा रहन-सहन और सफाई मुझे बहुत पसन्द है,' इत्यादि बातों पर वे सदा मुझे बोलाने की चेष्टा किया करते। यह सब कुछ था; परन्तु मुझे कभी उनकी ओर देखने का साहस नहीं हुआ—यत्न करने पर भी मैं उनकी दृष्टि से अपनी दृष्टि न मिला सकी। दिन के उपरान्त रात्रि को सब कार्यों से अवकाश पाकर जब मैं सोने के लिये जाती, तो चारपाई पर पड़ते ही मेरे विचारों में बाढ़ सी आ जाती और मेरे विचारों का केन्द्र जीजी के देवर मोहन

बाबू ही बन जाते। उनकी सन्तान के नाम केवल एक लड़की थी, जो अपने घरबार की हो चुकी थी और दो बच्चों की माँ थी। मैं बिना किसी कारण के अपनी आयु का अन्दाजा उस लड़की से लगाने लगती। कभी उनके हाव-भाव और चाल-ढाल पर मन-ही-मन सोच कर विरक्त हो उठती। साथ ही अपने मन में उन्हें बहुत अच्छा और सज्जन स्वभाव का व्यक्ति मानने का यत्न करती भी, तो सफल न हो पाती। दिन-भर के सहेजे हुए भाव रात्रि की नीरवता में यों हीं बिखर जाते। मैं यह जानती थी कि चाहे कोई कैसा भी क्यों न हो, मुझे उससे क्या? आखिर सदा तो यहाँ रहना है नहीं। कहाँ यह लोग और कहाँ मैं? परन्तु बचपन की खोजपूर्ण आदत से मैं हार गई। न-जाने क्यों मुझे ऐसा जान पड़ता था कि यह सब ढोंग है। मोहन बाबू चाहे जो कुछ हों; पर वे न तो हृदय के उतने साफ दीखते थे और न वैसे कुछ चतुर जान पड़ते थे। साथ ही जिन पर उन्होंने अपना सिक्का जमा रखा था, उन सभी की बुद्धि पर मुझे दया सी आती थी—विशेष कर जुगनू पर मुझे आश्चर्य था। उसे तो मैं बड़ा बुद्धिमान समझती थी।

किन्तु यह सब बातें रात्रि के समय की हैं। दिन निकलते ही फिर मुझे मोहन बाबू के विषय को भुलाने का यत्न करते हुए उनके तथा जीजी इत्यादि के अनुकूल ही अपने को बनाने का यत्न करना पड़ता था। धीरे-धीरे पन्द्रह दिन यहाँ आये हुए हो गये थे। शादी की धूम-धाम कम हो चली थी। कुछ मेहमान जा चुके थे, कुछ जाने को बाकी थे। अब एक दूसरे के सम्पर्क में

आने का काफी अवसर मिलता था। जुगुनू की चन्दा-सी दुल-हिन मुझे बहुत भाई थी और मेरा अधिकांश समय उसी के निकट व्यतीत होता था। अगले रविवार को मैं और जुगुनू बनारस लौटने को थे।

—४—

तीसरे पहर का सुहावना समय था। वर्षा ऋतु न होने पर भी बादलों के दो-चार हलके टुकड़ों ने न जाने किधर से आकर आकाश को घेर-सा लिया। ठण्डी हवा के शान्त झोंके घर की चहार दीवारी से बाहर खींच रहे थे। मैं सीने की मशीन और सामने पड़े हुये ढेर-के-ढेर कपड़ों को एक ओर सरका कर पीछे वाले लान में आकर बैठ गई। ठीक उसी अमरूद के पेड़ के नीचे, जिस पर बैठे बहुत से तोते कुछ कच्चे और कुछ अधपके फलों को बड़ी लापरवाही से कुतर-कुतर कर नीचे गिरा रहे थे। मुझ से यह देखा न गया। फलों की रक्षा के विचार से मैंने जमीन पर पड़े अमरूदों के दो-चार टुकड़े उठा कर पेड़ पर बैठे तोतों के झुण्ड पर फेंक मारे। सब के सब एक साथ फुर से उड़ गये। मुझे यह देख कर कुछ हँसी-सी आ गई। इसी समय पीछे की ओर से मोहन बाबू का स्वर सुनकर मेरा हृदय ठीक उसी प्रकार वेग से धड़क उठा, जैसा एक बार छत पर उन्हें अकेले में देख कर धड़कने लगा था; परन्तु मैं उतनी विचलित न हुई, जैसी उस दिन। वे बोले—'क्यों बेचारों को निराश करती हो? ये फल और किस काम आयेंगे?'

मैंने कहा—'क्या खूब? ये फल जब पक जायेंगे, तब न

जाने कितने स्वादिष्ट रूप में भगवान की उदारता और कारीगरी का परिचय देंगे, तब न-जाने कितनों को तृप्त करेंगे। अभी इन्हें बर्बाद कर देने से क्या लाभ ?'

इतना सब कह कर मैं वहाँ से भागने का विचार कर रही थी कि मोहन बाबू मेरा रास्ता रोक कर बोले—'भागो नहीं अखिला ! मैं कोई शेर या भेड़िया तो हूँ नहीं कि तुम्हें साबित ही निगल जाऊँगा। अरे, सुनो तो, चार दिन बाद तो चली ही जाओगी—केवल अपनी स्मृति छोड़ कर।'

मैं हतबुद्धि-सी खड़ी-खड़ी सब सुनती रही। कभी इधर-उधर देख लेती थी। मन की विचित्र दशा थी। मोहन बाबू की ओर देखने की हिम्मत मुझ में न थी। दूसरी ओर मुंह किये ही मैंने कहा—'मनुष्य को जीता ही निगलने वाले मनुष्य नहीं कहला सकते, और आपको तो आज तक मैं मनुष्य ही मानती आ रही थी।'

वे बोले—'दया-भाव दिखलाना तो प्रत्येक प्राणी का कर्तव्य है। मैंने अपनी गृहिणी के साथ ही साथ अपने संसार को मिटा डाला—यह सभी जानते हैं; परन्तु न जाने क्यों तुम्हारी भोली-भाली आकृति ने मुझे प्रथम बार ही पागल-सा बना दिया, अखिला ! तुम दयामयी हो, थोड़ी दया दिखलाओ। परस्पर प्रेम-भाव रखना प्रत्येक प्राणी का पहला कर्तव्य है। मैं यह तो नहीं बतला सकता कि तुमसे कितना प्रेम हो गया है। तुम भी हम से प्रेम कर सकती हो, यह मैंने खूब सोच लिया है। प्रेम करने का अधिकार सभी को है।'

मोहन बाबू की अन्तिम बात सुनते-न-सुनते मेरे सर में चक्कर-सा आने लगा। पृथिवी और आकाश काँपता-सा जान पड़ने लगा। इच्छा हुई कि इनकी जबान काट डालने की शक्ति यदि मुझ में होती। मन ही मन ईश्वर को स्मरण किया। हृदय में कुछ बल-सा जान पड़ा। इस बार मैंने मोहन बाबू की ओर साहस करके देखने का प्रयत्न करते हुये उन सब बातों का उत्तर दृढ़ता से देने के विचार से जैसे ही दृष्टि उठाई कि बेहोश होकर गिर पड़ी। फिर वही दृष्टि—फिर वही विषैली चितवन, जिसे लाख यत्न करने पर भी मैं आज तक भूली न थी! जब कुछ होश हुआ, तो मैंने अपने को पलंग पर पड़े हुए पाया। जीजी कुछ दवा-सी हाथ में लिये हुए थीं, मोहन बाबू पंखा झल रहे थे और जुगुनू मेरे माथे पर यू-डी-कोलन के जल में तर किया हुआ कपड़ा रख रहा था। साथ ही कहता जाता था—'काकाजी! अम्मा! जाइये, आप लोग भोजन कीजिये। अखिला मौसी को कुछ हुआ नहीं, वे अभी ठीक हुई जाती हैं।'

मुझे पूरा होश आ चुका था। सब सुना, समझा भी और सब कुछ याद भी हो आया। अब दोबारा आँखें खोलने की हिम्मत न हुई और न कुछ बोलने का ही साहस हुआ। थोड़ी देर बाद प्रमोद ने मुझे झक-झोर कर कहा—'मौसी, आँखें खोलो; लो, दवा पी डालो। हमारी जीजी रानी है।'

इस बार देखा, वहाँ तीसरा कोई न था। अवसर पाकर आँसुओं का बाँध टूट पड़ा, हृदय की समस्त ग्लानि आँखों की राह बह निकली। न जाने कितनी रोई। फिर जुगुनू से कहा कि

वह आज ही मुझे मेरे घर पहुँचा दे। इस पर तैयार होकर वह हठ पूर्वक सौगन्ध दिला कर मुझसे सारी बातें जानने की चेष्टा करने लगा। जब मैंने शुरू से आखिर तक उसे सब कुछ बता दिया, तब वह बोला— मैं भी अखिला जीजी, कुछ-कुछ समझने की कोशिश कर रहा था: परन्तु तुम तो बड़ी डरपोक हो। ऐसा मन रख कर दुनिया का सामना कैसे कर सकोगी जीजी ?'

और फिर उसकी बताई हुई युक्ति पर मुझे अनायास ही हँसी आ गई।

—५—

मेरा मन आज खूब स्वस्थ था। हृदय में अपूर्व शक्ति जान पड़ती थी, मानो रात भर में आज तक की सारी थकावट दूर हो गई हो। आज सचमुच ही संसार मुझे केवल हँसी और मनोरंजन का क्रीड़ास्थल-सा ही दीख रहा था। जीजी ने मुझे चौके में बुला कर थोड़ा बादाम का निशास्ता पिलाया और बाकी बचा हुआ निशास्ता एक कटोरे में भर कर कहा—'ले. यह अपने छोटे जीजा जी को दे आ।'

निशास्ता ले कर मैं हँसती हुई मोहन बाबू की पूजा की कोठरी की ओर चली, जहाँ वे अब भी ध्यानावस्था में भगवान् की प्रतिमा के सामने आसन जमाये बैठे थे। आज मुझे अपने विचारों की पूर्ण रूप से पुष्टि करनी थी और परीक्षा भी। क्षण-भर खड़े रह कर जैसे ही मैंने उनके सामने कटोरा रखा कि उनका ध्यान भङ्ग हुआ। एक बार उन्होंने मेरी ओर देखा। मैं तब भी हँसने की ही चेष्टा कर रही थी। उन्होंने झपटकर मेरा हाथ पकड़ना

चाहा। शायद वे भी भगवान् की उस प्रतिमा के सामने अपनी परीक्षा दे रहे थे, जो अपनी मन्द मुस्कान से उनका उपहास-सा करती जान पड़ती थी।

मैंने हाथ खींच लिया; पर डरी बिल्कुल नहीं। मुझे अपने ऊपर आश्चर्य था। मोहन बाबू ने मुझे बैठाना चाहा। मैंने कहा—'ठहरो, जीजी अभी इधर ही आ रही हैं। मैं ऊपर जाकर लेटती हूँ। सर में कुछ दर्द है। तुम वहीं आना, तभी बातें होंगी।'

इतना कह कर मैं जुगनू के पास उसके पढ़ने वाले कमरे में जा बैठी। प्रायः आध घण्टे के बाद छत पर किसी के पैरों की आहट जान पड़ी। मैं और प्रमोद दोनों चुपके-चुपके सीढ़ियाँ चढ़ कर जीने की चौखट पर से देखते रहे। मोहन बाबू ने बहुत आहिस्ता-आहिस्ता मेरे चौबारे में प्रवेश किया। फिर पलङ्ग के पास जाकर रजाई उठाई, जो इस ढङ्ग से फैलाई गई थी, मानो कोई सचमुच सो रहा है। इसके बाद रजाई अलग फेंक कर कागज़ का वह बड़ा टुकड़ा उठा कर पढ़ना आरम्भ किया, जो मेरे बिस्तर पर रजाई ओढ़े सो रहा था और जिस पर लाल रोशनाई से बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा था—'एप्रिल फूल!'

इसी समय प्रमोद खिलखिला कर हँस पड़ा और मुझे घसीटता हुआ मोहन बाबू के सामने ले ही गया। उस समय मोहन बाबू की जो दशा थी, वह देखने ही से सम्बन्ध रखती थी। उन्होंने मेरे और प्रमोद के पैर पकड़ लिये। सचमुच उस समय मुझे उनके ऊपर दया हो आई। मैंने उनकी इस शक्ल की तो कभी कल्पना भी नहीं की थी। प्रमोद अब भी खूब हँस रहा

था। मोहन बाबू को उठाते हुए मैंने कहा—'ऐसी भूल अब कभी न करना।'

'क्षमा....'

मैंने कहा—'हाँ, जाओ क्षमा कर दिया।'

हल्ला-गुल्ला सुन कर जीजी भी ऊपर आ गईं। उन्होंने आते ही कहा— यह सब क्या हो रहा है, प्रमोद? अखिला चुप क्यों हो? कैसा शोर-गुल मचा रखा है?'

फिर मोहन बाबू के उतरे हुए चेहरे की ओर वे ध्यान से देखने लगीं। मैंने तो कुछ कहा नहीं, पर प्रमोद चुप रहने वाला लड़का थोड़े ही था। बोला—'अम्माँ! आज अप्रैल की पहली तारीख है न? सो अखिला मौसी ने काकाजी को खूब बेवकूफ बनाया।'

पर जीजी अब भी मोहन बाबू को ही आश्चर्य से देख रही थीं!

कहानी का अन्त

— १ —

आज पूर्णिमा थी। शीला का उपवास था। न जाने पति की शुभकामना के लिये वह कितने व्रत, उपवास, दान-पुण्य और देवपूजा कर चुकी थी। परन्तु अभी तक दैव उसके अनुकूल न हुए थे। सुरेशचन्द्र को खाट पर पड़े धीरे-धीरे नौ मास हो चुके थे। चार बार छुट्टी ले चुके थे। जो कुछ जोड़ा-बटोरा था, वह भी समाप्त हो चला था। और न जाने कितने दिन ये पापड़ बेलने पड़ेंगे। इसी चिन्ता में शीला पति के पलँग की एक पट्टी पर माथा टेके बैठी थी, कि सुरेशचन्द्र ने पत्नी की ओर मुँह करके कहा—'शीला, जाओ कुछ खा लो? सुबह से एक घूँट पानी भी तुम्हारे मुँह में नहीं उतरा।'

शीला का हृदय करुणा से सिहर उठा। आह! कैसा आग्रह मचल रहा है! बोली-'खा लूँगी अभी तो चन्द्रोदय नहीं हुआ।'

'चन्द्रमा तो बादलों से घिरा है प्रिये! बाहर जाकर थोड़ी प्रतीक्षा करो, शायद दर्शन हो जाँय।'

'हाँ, बादलों मे ही घिर रहा है।' शीला ने उमड़ते हुए आँसुओं को पीकर कहा। पत्नी की पीड़ा को समझ कर सुरेश ने अपना दुबला और शक्ति हीन हाथ बढ़ाकर शीला की सुन्दर

और कोमल कलाई पकड़ ली और कहा—'इस प्रकार अधीर न हो प्रिये, विधना के अङ्कों को कौन मेट सकता है ? वे दिन अब दुर्लभ हो गये। तुम जैसी सर्वगुणसम्पन्न स्त्री पाकर मैं अपने को धन्य समझ रहा था. परन्तु दो वर्ष भी सुख से न बीत सके। शीला, जान पड़ता है, वे दिन अब न लौटेंगे। हमारा-तुम्हारा इतना ही संयोग था। परन्तु मुझे अपनी चिन्ता नहीं है। जाने वाला तो चला ही जाता है। चिन्ता सिर्फ तुम्हारी है, जिसे मेरे पीछे कोई धैर्य बँधाने वाला भी नहीं है। तुम्हारी माँ भी न रहीं। इधर मेरे घर वालों की आदत तुम जानती ही हो। वे किसी के न होंगे। तुम न होतीं तो ये हड्डियाँ कभी की राख हो गयी होतीं।......।'

सुरेश न जाने कब तक कहते रहते। शीला ने उनके मुँह पर हाथ रखकर कहा—'ऐसी बातें न करो; मुझे दुख होता है।'

'अच्छा, पर तुम कुछ खा तो लो। न हो, यहीं ले आओ।'

'अच्छा, जाती हूँ।' कह कर शीला रसोई घर की ओर चली गयी। वहाँ देखा, नौकर ऊँघ रहा है। शीला ने उसको जगा कर कहा—'सुक्खू, तू जाकर बाबू के पास बैठ. मैं अभी आती हूँ।'

'सो जनमां तो बड़ो जाड़ो है बहूरानी।'

'हाँ, पहाड़ों पर ऐसा ही जाड़ा होता है कम्बल ओढ़ कर बैठ जाना। देखो वहाँ आग लेकर न बैठना. इसमें उनके सिर में दर्द हो जाता है।'

नौकर को पति के कमरे में भेज कर शीला ने एक लोटा जल

लिया, उसमें फूल-अक्षत डाले। एक हाथ में वह लोटा और दूसरे हाथ में दीपक लेकर शीला चन्द्रमा को अर्घ्य देने के लिये बाहर छत पर आई। अभी तक चन्द्रमा बादलों से ढँके थे। युवती अन्य मनस्क होकर आकाश की ओर देखती हुई बोली—'देव, सारा दिन व्यतीत हो गया है, अब तो दर्शन देकर इस दासी की मनोकामना को पूर्ण करो। मेरा प्रण है, कि बिना दर्शन किये जल ग्रहण न करूँगी। यदि तुम्हारी ऐसी ही इच्छा है तो यही सही परन्तु नाथ, हे सत्यदेव स्वामी, मेरे सौभाग्य की रक्षा करना। मैं मातृ-पितृ हीन बालिका, आँचल पसार कर तुम से सौभाग्य की भिक्षा माँगती हूँ।'

इसी समय बादलों में से थोड़ी प्रकाश की रेखा दिखाई दी। शीला ने उत्सुक होकर कहा—"प्रकट होने लगे देव! हैं; फिर मुंह छिपाते हो?"

"इस चन्द्रमुखी के सामने वह अपना कलङ्कित मुंह लेकर कैसे आ सकता?"

बहुत दिनों की परिचित आवाज सुनकर शीला का सर्वाङ्ग काँप उठा। उसने मुंह ऊपर उठाकर बिजली के प्रकाश में जो कुछ देखा, उसकी उसने कभी कल्पना भी न की थी। सहसा शीला के हाथ से पूजा की सामग्री छूट कर नीचे गिर गयी। वह आगन्तुक की ओर देख कर बोली—"विनोद, तुम यहाँ कैसे?"

"शीला, और तुम·······?" कहता हुआ युवक उसके निकट ही आकर खड़ा होगया। रमणी दो कदम पीछे हट कर बोली—

"यह लो मेरा तो व्रत ही खंडित होगया सामग्री सब बिखर गई। अब अर्घ्य काहे से दूं ?"

युवक अपराधी की तरह देख रहा था। शीला ने उसकी ओर देखा। दोनों के नेत्र परस्पर मिल गये। युवक के नेत्रों से कोई अपार वेदना झांकती सी जान पड़ी। युवती के नेत्रों से प्रेम की आलोकित धारा प्रवाहित होरही थी। इसी समय बादलों के घूंघट को उलट कर चन्द्रमा ने उन दोनों की ओर कनखियों से देखा। शीला ने चन्द्रमा की ओर मुंह कर और हाथ जोड़ कर कहा—"क्षमा करना देव, मुझ अज्ञान बालिका पर दया करना।"

नीचे से लोटा उठाया, तो देखा उसमें अभी थोड़ा जल बाकी था, वही चढ़ा दिया। दीपक का ध्यान भी न रहा। युवक अभी निश्चल खड़ा हुआ उस परम सुन्दरी युवती को एक टक देख रहा था। अब कुछ साहस करके बोला—"क्षमा करना देवी, मुझसे आज तुम्हारा बड़ा अपराध होगया है, पर आशा है अपने बचपन के इस अभागे साथी को तुम अवश्य ही क्षमा कर दोगी। अच्छा अब चलता हूँ।'

'कहाँ! इस समय कहाँ जाओगे विनोद ?'

'वहीं जिसके लिये इतनी दूर चल कर आया हूँ ?'

'किसके लिये ? कौन वह भाग्यशाली है ? क्या मैं उसका नाम जान सकती हूँ ?'

'क्यों नहीं शीला ? तुम्हारे न जानने योग्य मेरे पास रक्खा ही क्या है ? मेरे एक मित्र कुछ दिनों से बीमार हैं। सुना है आज कल वे यहीं सोलन में किसी से इलाज करा रहे हैं। मैं

उन्हें देखने आया हूँ।'

'तुम्हारे मित्र ? क्या नाम है, उनका ? कौन हैं वह ?'

'एक साथ इतने प्रश्न ? तुम्हें क्या हो गया है शीला ? मेरे मित्र सुरेशचन्द्र सिन्हा हैं, जो कुछ दिन पहले बांदा में मुंसिफ रह चुके हैं। बेचारे हाल ही में नौकर हुए थे। सुना था, इसी बंगले में ठहरे हैं, लेकिन मालूम होता है, मैं नम्बर भूल गया हूँ। इतनी रात बीते पता लगना भी मुश्किल है। हां, तुम अपनी तो कहो शीला, कि तुम यहाँ कैसे आई हो !'

शीला मानो आकाश से गिर पड़ी। पर हृदय को थाम कर बोली—'मेरे दुर्भाग्य की बात सुन कर क्या करोगे, विनोद ? अपनी कहो अच्छे तो हो न ?'

'हाँ, अच्छा ही हूँ।'

'विनोद !'

'कहो क्या कहती हो ?'

'क्या करोगे सुन कर ?'

'हानि ही क्या है ? शायद कुछ कर भी सकूं। पिताजी का स्वर्गवास हो गया–यह तो तुमने सुना ही होगा। हाँ शीला, तुम्हें वे बचपन के दिन याद हैं न, जब हम-तुम खेतों में जाकर न जाने क्या-क्या खेल खेला करते थे ? पर ····अब वे दिन कहाँ ?'

'विनोद, यदि बचा सको, तो इस बार उन्हें बचालो।'

'किसको ?'

'अपने मित्र को।' कह कर युवती ने लज्जा से मस्तक झुका लिया। उसे यह पता न था कि जीवन में कभी इस प्रकार

अग्नि-परीक्षा भी देनी पड़ेगी।

युवक कुछ देर सोच कर कौतूहल में बोला—'क्या तुम विवाहित हो शीला? सोचा था, भारत लौट कर एक बार फिर अपने भाग्य की परीक्षा करूँगा, पर देखता हूँ अब मेरा कुछ भी न रहा। जिस समय पिताजी से तुम्हारी माता ने विवाह का जिक्र किया था, तभी से भाग्य ने मेरे विरुद्ध षड्यन्त्र रचना आरम्भ कर दिया था। शीला, अब इस संसार में मेरा अपना कहने योग्य कोई नहीं रहा।'

'मेरा ही कौन बैठा है, विनोद? अम्मां मेरी ही चिन्ता में घुल-घुल कर मर गयी। जब से तुम्हारे पिताजी ने मना किया और तुम विलायत चले गये, तभी से वे खाट पर पड़ गयी थीं। आखीर, विवाह के छः महीने बाद उनका देहान्त हो गया। अब न जाने क्या होना है?'

'होगा क्या? जो कुछ हो चुका वही क्या कम है?'

'लेकिन विनोद, वे भी तो मुझ से प्रेम करते हैं?' कहते हुए युवती रो पड़ी। युवक का हृदय छट-पटाने लगा। उसने शीला का हाथ पकड़ना चाहा, पर वह बीच में ही बोल उठी—'प्रेम में मलीनता नहीं होती विनोद, वह तो पवित्रता सिखाता है।'

'हाँ यह ठीक है, पर मैं तुम्हारा मतलब नहीं समझा शीला, स्पष्ट कहो।'

'कुछ नहीं, अब वे बातें भुला देनी होंगी।'

'पर शीला असम्भव सम्भव कैसे हो सकता है? जब मैं तुम्हें आज तक न भूल सका तो क्या अब भूल जाऊँगा? ऐसी

बात को तो सोचने में भी कष्ट होता है।'

'नहीं, मैं यह थोड़े ही कहती हूँ।'

'फिर ?'

'अच्छा, तुम अपना विवाह कब करोगे ? जान पड़ता है, अभी अकेले ही हो। क्यों न ?'

विनोद चुप रहा। शीला ने फिर कहा—'क्यों ? बोलते क्यों नहीं ?'

युवक ने कहा—'मुझे क्या पता था कि तुम कभी मित्र-पत्नी के रूप में दीख पड़ोगी।'

'इन बातों से अब क्या लाभ ?'

'तो मुझ से विवाह करने को कहती हो ? कंगाल से किला फतह कराना चाहती हो ?'

यह कह कर युवक ने रूमाल से आँसू पोंछ डाले। युवती का हृदय करुणा से भर गया। वह विनोद का हाथ अपने हाथ में लेकर बोली—'तुम दुखी न हो विनोद, मैं इस समय आपे में नहीं हूँ, पर मेरी एक बात मानोगे ?'

'अवश्य।'

'तो देखो, मैं हिन्दू-समाज की अभागिनी कन्या हूँ। तुम कभी ऐसा कोई काम न कर बैठना, जिससे मेरे आदर्श पर आंच आये, तुम जानते हो कि मैं भी मनुष्य हूँ। सहन-शक्ति की भी तो कोई सीमा होती है।'

'शीला, मैं तुम्हारे आदर्श और इच्छा पर अपने जैसी हजारों जान निछावर कर सकता हूँ। मैं इस संसार में तुम्हारा सब से

अधिक आदर करता हूँ, पर हृदय से मजबूर हूँ!' कहते हुए युवक फिर कातर हो उठा।

रमणी भी न जाने कब से आंसुओं को पी रही थी, पर अब वे निकल कर बहने लगे। विनोद ने शीला के आंसू पोंछ दिये। इस बार वह कुछ न बोली। विनोद ने कहा—'शीला, छिः, रोती हो। यदि इस तरह कातर होती रही, तो मेरा कहीं ठिकाना न लगेगा। सोचता हूँ, तुम दोनों की सेवा कर तर जाऊंगा। आखिर वह भी तो मेरा मित्र ही है।'

'तुमने बड़ी देर से खबर ली। अब तो हड्डियां ही रह गई हैं।'

'ऐं! ऐसी दशा हो गयी? पर मैं तो यहाँ था ही नहीं, सिर्फ एक सप्ताह हुआ जहाज से उतरा हूँ। खैर, घबराओ नहीं शीला, मैं तुम्हारे हित के लिये अपने प्राण भी दे सकता हूँ।'

'मुझे तुमसे ऐसी ही आशा थी विनोद।'

'तुमने मैट्रिक की परीक्षा तो दे दी होगी?'

'हां।'

'मैं बड़ा भाग्यहीन रहा।'

'छिः ऐसी बातें नहीं कहनी चाहिये।' शीला ने विनोद का हाथ झटक कर कहा।

'अच्छा, अब से न सुनोगी।'

'जान पड़ता है, पुरुष से स्त्री अधिक सहनशील होती है। उसका हृदय अधिक गहरा होता है। तुम क्या ढूंढ़ने की कोशिश कर रहे हो, पहुँच न सकोगे।'

शीला भीतर चली गयी। अपार वेदना से घायल होकर।

विनोद भी पीछे चल दिये। जाते वक्त सुना कोई कह रहा है—'तुम किस से बात कर रही थी शीला ?'

'कोई आपके मित्र आए हैं।'

विनोद ने अनुमान किया, शीला सम्भव है उस रूप में मुझे इनके सामने प्रकट न करना चाहती हो।

—२—

पहाड़ी प्रदेश सोलन में एक बङ्गले के ऊपरी हिस्से के साधारण कमरे में चारपाई पर पड़े-पड़े बीमार सुरेश वर्तमान अवस्था पर विचार कर रहे हैं। जब वे अपने भविष्य पर दृष्टि डालते हैं, तो एक भीषण दृश्य की कल्पना, एक अबला के आंसू, उनके हृदय पर पत्थर सा रख देते हैं। इसी कारण वे भविष्य को अपने से दूर ही रखना चाहते हैं, पर सफल नहीं हो पाते।

पास ही बैठे विनोद ने स्नेह से उनका हाथ पकड़ कर कहा—'अब थोड़ा-सा दूध पी लो भाई, फिर दवा का समय हो जायगा।'

'मैं अब दवा नहीं, गङ्गाजल पीना चाहता हूँ। विनोद, क्या करोगे दवा खिला कर ? भला कहीं फूक भरने से मुर्दे भी जीते हैं ?' सुरेश ने नैराशापूर्ण स्वर से कहा।

'भाई ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये। दिन सदा एक से नहीं रहते, पर तुम तो सदा के ही रोगी हो। याद है, वे होस्टल के दिन, जब मैं समझाया करता था कि स्वास्थ्य के समान संसार की कोई वस्तु नहीं है, लेकिन तुम कुछ सुनते ही न थे। सुरेश मैं सोच रहा हूँ, कि तुम्हें यूरोप घुमा लाऊं। मुझे विश्वास है, कि वहाँ रह कर कुछ दिनों में तुम्हारा स्वास्थ्य ठीक हो जायगा।'

'तुम पागल हो गये हो विनोद, जो ऐसी बात कर रहे हो? पहले तो इतना रुपया ही नहीं है। मेरे घर की हालत तो जानते ही हो। एक भाई हैं वे भी कठिनाई से अपना काम चला रहे हैं। मां के पास जो कुछ था, हम लोगों की पढ़ाई-लिखाई में लग गया। बैठे-बैठे खाने से दस-बीस हजार कितने दिन चल सकता था? इधर मेरी नौकरी को दिन ही कितने हुए थे। शीला के पास उसकी मां का दिया कुछ रुपया था, जो अभी तक चल रहा था। पता नहीं, अभी इन हड्डियों में कितना रुपया और समा जायगा।'

कह कर सुरेश ने अधीर हो, अपना मुंह दूसरी ओर फेर लिया। विनोद ने उन्हें आश्वासन देते हुये कहा—'इस प्रकार अधीर न हो सुरेश! मेरे और तुम्हारे रुपये में अन्तर ही क्या है? मेरे पास जो कुछ है, वह सब तुम्हारा ही है। और हाँ, तुम सुसराल का माल अकेले-अकेले ही उड़ा गये। न जाने कितनी दावतें खा डाली होंगी, पर विनोद को कभी भूल कर भी याद न किया होगा।'

'ऐसी बातें न करो विनोद, तुम जो खाना चाहो, अब खालो। वह जल्दी का काम था और तुम इतनी दूर से आते ही कैसे? अच्छा, तुम्हीं बताओ, जब तुम्हारा सब कुछ मेरा हो सकता है, तो क्या मेरा सब कुछ तुम्हारा नहीं हो सकता?'

'परन्तु मेरे पास रक्खा ही क्या है भाई? मैं तो अपने जीवन में किसी के साथ कुछ भलाई न कर सका। कौन जाने तुम्हारा विवाह भी इन आंखों से देख सकूँगा या नहीं? कहीं

लड़की ठीक करली है, या नहीं। अब तुम भी विवाह कर डालो।'

'विवाह ? यह तुम मुझे आशीर्वाद दे रहे हो या शाप ?' विनोद ने विकट हँसी हँसकर कहा।

ऐसी बात कहने से क्या लाभ है ? यह तो सभी को करना पड़ता है।'

'नहीं मेरे विचार से जरूरी नहीं है। मनुष्य विवाह किये बिना भी मनुष्य बना रह सकता है। सामित को असीम में परिवर्तन कर देना कहीं अच्छा है। हम यह नहीं समझते, तभी तो हमारे देश की दशा खराब होगई है।'

सुरेश चुप रहा। विनोद ने फिर कहा—'क्या सोचने लगे ?'

'कुछ नहीं। अच्छा, मैं तुमसे एक बात कहूं, बुरा तो न मानोगे ?'

'रत्ती भर नहीं। कहो क्या बात है ?'

'विनोद !'

'हां सुरेश !'

'देखो भाई' मेरे जीवन का तो कुछ भरोसा है नहीं। यदि कर सको तो शीला की रक्षा करना। वह आज से तुम्हारी अपनी ही है। उसका और कोई नहीं है।'

छिश ! ऐसी बात न करो, तुम अच्छे हो जाओगे।'

'असम्भव है।'

इसी समय डाक्टर आगये। उन्होंने रोगी की बड़े ध्यान से परीक्षा की और विनोद को इशारे से बुलाकर कहा—'देखो अब ये न बचेंगे। मैं जो कर सकता था, कर चुका। अधिक से

अधिक एक महीना निकल जाय तो बहुत है। पर भरोसा एक दिन का भी नहीं है। इस लिये अब इन्हें यहां से ले जाना चाहिये।'

यह सुनते ही विनोद को काठ मार गया। वे घबरा कर बोले—'आपने यह क्या कहा डाक्टर ? आह मैं उसकी आँख के आँसू कैसे देख सकूँगा ? क्या यूरोप ले जाना ठीक न होगा ?'

'आप कैसी बातें कर रहे हैं ? कहीं रास्ते में ही...............'

'आह मैं शीला को कैसे धैर्य दूंगा ?' कह कर व्याकुलता से डाक्टर की ओर देखने लगे। डाक्टर ने आदर से उनके कंधे पर हाथ रख कर कहा—'ये सब ईश्वर के हाथ की बातें हैं, इनमें किसी चारा नहीं चल सकता। इनके दोनों फेफड़े बहुत खराब होगये हैं, जो अब ठीक नहीं हो सकते।'

'परन्तु बातें तो बड़ी होश की करते हैं ?

'हां, इस बीमारी में यही होता है। इनके घर पर कौन कौन हैं, आपसे इनका क्या सम्बन्ध है ?'

'घर पर बड़े भाई और माँ हैं और मेरे मित्र हैं।'

'शादी को कितने दिन हुये हैं ?'

'करीब दो वर्ष।'

डाक्टर का हृदय सहानुभूति से भर गया। बोले—'ईश्वर की लीला है, इस पर किसी का बस नहीं चलता। अच्छा, अब मैं जाता हूँ।'

डाक्टर को विदा कर विनोद एक कुर्सी पर बैठ गये। इस सम उनका यहृदय बड़ा कातर होरहा था। न जाने उनके दिमाग

में क्या-क्या बातें आकर परेशान कर रही थीं। सबसे अधिक चिन्ता इनको शीला के भविष्य की थी। मैं उसे किस मुंह से धैर्य दूंगा ? यद्यपि इस खोई हुई वस्तु को पाकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है और मैं उसको अपनी ही समझता हूँ, पर वह हिन्दू समाज में पालित होने के कारण मेरी बात क्यों मानने लगी ? सम्भव है, उसने अपने हृदय का सारा प्रेम सुरेश पर ही न्योछावर कर दिया हो। तब क्या हो ? आह ! उसकी आँख का एक-एक जल-बिन्दु मेरे हृदय के रक्त की एक-एक बूंद के समान होगा। मैं उसके आँसू न देख सकूंगा।

इसी समय शीला ने आकर कहा—'दोपहर होगया, तुमने अभी स्नान भी नहीं किया। खाना ठंडा होरहा है। चल कर नहा लो।'

'मैं आज न खाऊँगा शीला, मन न जाने कैसा हो रहा है।'

'क्यों, क्या बात है, डाक्टर क्या कह गये हैं ?'

शीला ने आशङ्का से प्रश्न किया। युवक ने विस्मय से उसकी ओर देखकर कहा—'डाक्टर कहते थे, कि यहाँ का मौसम खराब हो गया है, कुछ दिनों के लिये इन्हें घर ले जाओ।'

'घर पर क्या रक्खा है ? वे लोग तो इनकी खबर तक नहीं लेते।'

'तो मेरा घर क्या तुम्हारा घर नहीं हैं ? मैं शीघ्र ही हिन्दू-विश्व विद्यालय में प्रोफेसर होने वाला हूँ चलो इन्हें वहीं ले चलें।'

'वहां तो मेरे मामा का घर भी है, पर····खैर उन से पूछलो।'

युवक ने उदासी से कहा—'पर मैं तो तुम्हें अपने घर रखना चाहता था, शीला !'

'अच्छा, क्या अब ये अच्छे नहीं होंगे ? तुम मुझसे साफ-साफ क्यों नहीं बतलाते कि डाक्टर ने क्या कहा है ?'

'तुम खुद ही समझदार हो शीला, भला कोई ईश्वर की लीला को कैसे समझ सकता है ?'

'जान पड़ता है, विनोद·······आह, फिर मेरा क्या होगा ?'

'मैं तो अभी जीवित हूँ शीला !'

'लेकिन दुनियाँ क्या कहेगी ? मैं लोक-निन्दा सहने की अपेक्षा मर जाना कहीं अच्छा समझती हूँ ।'

विनोद चुप रहे। शीला ने कहा—'क्या मैं झूठ कह रही हूँ ? पति-विहीना नारी तो वैसे ही समस्त अवगुणों की खान हो जाती है ।'

'परन्तु मै लोक निन्दा से नहीं डरता ।'

'लेकिन मुझ में तो इतना साहस नहीं है न ।'

'हो जायगा ।'

'तुम अपना विवाह क्यों नहीं कर लेते ?'

'किसके साथ ?'

'क्या कन्याओं की कमी पड़ रही है ?'

'हां, ऐसी कोई दिखाई नहीं देती ।'

यह कह कर युवक ने चाह भरी दृष्टि से युवती की ओर देखा । वह इस दृष्टि से मर्माहत हो कर रसोई में चली गई । वहाँ जाकर सोचा, क्या विनोद पागल होगया है ?

बनारस आने के एक सप्ताह बाद, अनेक प्रयत्न करने पर भी शीला का सौभाग्य-सूर्य्य अस्त हो ही गया। विनोद ने ही उसके सौभाग्य की चिता पर दहकती हुई चिनगारी डाली। वह खुद भी उसी में भस्म हो जाना चाहता था। परन्तु मोहवश लौट आया। सोचा, शीला सुनेगी तो क्या कहेगी? शीला ने भी एक बार मरने का विचार किया था, पर वह भी न मर सकी। एक तार चुनारगढ़ को दिया गया। शीला के मामा के यहाँ चपरासी भेजा गया। परन्तु वे सब उस समय आए, जब भस्म ही शेष थी। विनोद ने हृदय पर वज्र रख कर अपने आदर की वस्तु, प्यार की पुतली शीला को लुटते हुये देखा, परन्तु उससे मरा न गया। अब वह उस वियोगिनी के आंसुओं में डूब जाना चाहता था। लेकिन शीला के जेठ ने पल भर के लिये भी उसको वहाँ छोड़ना उचित न समझा। वह उसी दिन रोती-बिलखती शीला को लेकर चुनार में जा पहुँचे। शीला अब आदर की वस्तु न रह गई थी। अपमान और तिरस्कार को छोड़ कर उसके भाग्य में मानों कुछ था ही नहीं। नित्य नई रार खड़ी हो जाती थी। सास उससे उदासीन रहती और जेठानी अपने कटु-वाक्य-बाणों से सदा उसका हृदय विद्ध करती रहती। 'दिन भर रोती रहती है, न जाने अब किसे खायगी?' इत्यादि बातों से उसका सत्कार होता रहता। उधर जेठ जी विनोद का नाम ले-लेकर व्यङ्ग बौछार करते रहते। 'वही इसका सगा है, उसी घर में ले जा कर मेरे भाई को मार डाला! अब जाती क्यों नहीं वहाँ?

वही तो तेरा घर है। अब तो स्त्रियाँ पुनर्विवाह करने लगी हैं ?'

इस तरह की बातें सुनते-सुनते शीला का हृदय फोड़े की तरह दुखने लगा था, परन्तु चुप-चाप सुन लेने के सिवा वह कर ही क्या सकती थी ? कई बार आत्मघात करने का विचार हुआ पर सफल न हो सकी। अब उसको इस घर में रहना एक-एक क्षण भारी हो रहा था। अपनी शिक्षा पर उसको गर्व था। वह सोचती, मैं चाहूँ तो अपना जीवन बड़े आनन्द से बिता सकती हूँ। किसी भी स्कूल में अध्यापिका हो सकती हूँ। प्रथम तो वे ही मुझे अपनाने के लिए तैयार हैं, परन्तु मैं ऐसा कोई काम न करूँगी, जिससे किसी को उँगली उठाने का मौका मिले। देखो, मामा ने भी मुझे नहीं बुलाया इस नरक में पड़े-पड़े छः मास हो गये हैं। अब की बार यहाँ से निकल पाऊँ तो जन्म भर लौट कर न आऊँ, चाहे कुए में डूब कर मरना पड़े।

कुछ दिन और इसी तरह बीत गये। एक दिन शीला ने सुना कोई बाहर कह रहा है—'बहू के भाई बनारस से लिवाने आए हैं, उनका विवाह है।'

शीला ने सोचा, शायद जेठानी को लेने आये होंगे। परन्तु उसी समय उँगली नचाती हुई जेठानी ने आकर कहा—'लो जाओ, मामा ने बुलाया है। चिट्ठी भेज-भेज कर जान खा डाली। भेजने को मना लिख दिया गया था, फिर भी आही धमका। अभी साल भर भी तो नहीं बीता। ब्याह की सूझ गयी !'

शीला ने कहा—'संसार के सभी काम चलते रहते हैं, केवल जाने वाला ही फिर कभी दिखाई नहीं देता। जब मैं ही न मर

सकी तो और किसी की क्या शिकायत ?'

बस, इतना कहते ही संग्राम छिड़ गया। सास भी मोर्चे पर आ डटी। इसी समय रतन—शीला के मामा के लड़के ने भीतर आकर कहा— जीजी, वे तो भेजने को मना करते हैं।'

'पर मैं अवश्य चलूंगी या फिर समझ रखना रतन, मेरी तुम्हारी यह अन्तिम भेंट है।'

'तो फिर मैं भी तुम्हें छोड़ कर न जाऊँगा। उठो, तैयार हो जाओ, दो बजे गाड़ी जाती है।'

शीला ने अपने दो-चार साधारण से कपड़े ट्रंक में रख कर चादर ओढ़ ली। घरवालों ने बहुत हाथ-पैर पीटे, पर रतन चतुर था, उसने सबको समझाते हुए कहा—'जीजी का कुछ रुपया जमा है। मैं उसका कुछ प्रबन्ध कराना चाहता हूँ। और इधर विवाह आ गया है, मेरे कोई बहन भी नहीं है। काम निबटते ही मैं खुद पहुँचा जाऊँगा।'

घरवालों से अपनी बात कहते ही वह शीला को लेकर ताँगे में जा बैठा। स्टेशन पहुँचे और गाड़ी में बैठ गये। गाड़ी चलने लगी, तो रतन ने शीला से कहा—'जीजी, अब इनके यहाँ कभी न आना।'

'परन्तु मेरा और ठिकाना ही कहाँ है भैय्या ? खैर, न होगा कहीं नौकरी कर लूँगी।'

'हटो, ऐसी बात न करो। अभी तो हम सब ज़िन्दा हैं। फिर तुम्हारे पास रुपये की कमी नहीं है। हमारे प्रोफेसर साहब कहते थे, कि जीजा ने तुम्हारे लिये बीस हजार रुपया छोड़ा है।'

शीला आश्चर्य से रतन का मुँह देखने लगी। रतन फिर बोला—जीजी, प्रोफेसर साहब अक्सर तुम्हारे विषय में मुझसे पूछा करते हैं। एक बार सूद के रुपये बतलाकर, उन्होंने पाँचसौ रुपये तुम्हें देने के लिये मुझे दिये थे, जो बाबूजी के पास जमा हैं। वे कहते हैं, कि शीला जब यहाँ आयगी तभी रुपये देंगे।'

शीला आश्चर्य से चकित थी। रतन की बात समाप्त होते ही बोली—'वे मनुष्य हैं या देवता ? मैंने तो उनको ऐसा न समझा था !'

अभागिनी रमणी के नेत्रों में पानी भर आया। रतन ने कहा—'जीजी, वे बड़े सज्जन आदमी हैं।'

'तुम क्या वहीं पढ़ते हो रतन ?'

'हाँ।'

'पर वे अपना विवाह क्यों नहीं कर लेते ?'

'क्या मालूम। वे कहते हैं, कि बचपन में मेरा विवाह हो गया है, अब दूसरा विवाह करना पाप है। एक बार ताऊजी ने विवाह के लिये बड़ी कोशिश की थी, पर वे मानते ही नहीं।'

शीला का हृदय फटा सा जा रहा था, पर वह आग ऐसी न थी जिससे धुआं उठ सके। वह तो राख में दबी थी, जो न बुझती थी और न अच्छी तरह सुलगती ही थी। शीला बड़ी कठिनाई से बोली—'एक बार मैं भी विद्या के लिये प्रयत्न कर देखूंगी।'

'हाँ, यह ठीक रहेगा। इस साल वह नवीं की परीक्षा देगी।'

'अच्छा।' कह कर शीला कुछ सोचने लगी।

रतन ने फिर कहा—'जीजी, वे जीजाजी के गहरे दोस्तों में से हैं ?'

'हाँ, पर तुम्हें कैसे मालूम हुआ ?'

'मैं उसी कालेज में पढ़ता हूँ जिसमें वे प्रोफेसर हैं। मुझ पर भी बड़ी कृपा रखते हैं। एक दिन बातों ही बातों में तुम्हारा जिक्र भी आया था।'

'उनकी स्मरण शक्ति बड़ी तीव्र है भैय्या। वे सहज ही किसी को नहीं भूलते।'

'जीजी, तैयार रहना बनारस आने वाला है।'

(४)

बहुत दिन बाद आज शीला अपने मामा-मामी से मिली। एक दिन तब मिली थी, जब उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग किसी अपूर्व सौरभ से सुरभित थे, सौभाग्य उसके माथे पर रङ्ग बरसा रहा था और भविष्य जीवन की सुखमय कल्पनाओं से हृदय लबालब भरा था। उसके बाद अब मिली, जब वह जीवित ही चिता में झुलसी हुई सी जान पड़ती थी। मामा ने आश्वासन दिया, मामी ने हृदय से लगा कर प्रेम का परिचय दिया। बराबर वालियों ने एक कौतूहल पूर्ण शून्य दृष्टि से देख सहानुभूति प्रकट की। रतन ने कहा—'मैं अब शीघ्र ही नौकर हो जाऊंगा, कहीं न कहीं इञ्जिनियर की जगह मिल ही जायगी। बस, फिर मैं जीजी को अपने पास रक्खूंगा। वहाँ इन्हें बड़ी तकलीफ है। चार-छः महीने की देर और है।'

रतन की इस बात का न तो किसी ने समर्थन ही किया और

न किसी ने आपत्ति ही की। मामी ने एक ओर इशारा कर कहा—'जा बेटी, उस कमरे में अपना सामान रखद।'

शीला चुपचाप उस कमरे में जाकर घुटनों में सिर देकर बैठ गयी। इस समय उसको एकान्त की आवश्यकता थी।

× × ×

आज रतन के विवाह की दावत थी। निमन्त्रित लोगों के कोलाहल से सारा मकान गूंज रहा था। गङ्गा तट वाले हिस्से में खाने-पीने का प्रबन्ध था। स्त्रियों में नई नवेलियों के कल कण्ठ से निकली हुई ध्वनि की तरङ्ग उठ रही थी। सभी अपनी अपनी पसन्द के वस्त्राभूषणों से सजी थीं। यह साड़ी तो गहरे रङ्ग की है, देखो तुम्हारी अँगूठी ढीली है, कहीं निकल न जाय, ये इयरिङ्ग अच्छे बने हुए हैं, इत्यादि बातों से सारा मकान मुखरित हो रहा था। इसी समय विद्या ने शीला के कमरे में प्रवेश करते हुए कहा—'लाओ जीजी, तुम्हारी चोटी गूंथ दूं और माथे पर बिन्दी लगा दूं।'

'दूर पगली, कहीं विधवाओं के माथे पर भी बेंदी लगाई जाती है?'

यह बात बालिका की बुद्धि से परे थी। उसकी समझ में यही न आता था कि ऐसी उम्र में इतना सुन्दर रूप पाकर, कोई इस तपस्वियों के से वेश में कैसे और क्यों रह सकता है? विद्या तो अभी विवाहित जीवन से भी अपरिचित थी, फिर वह विधवाओं की कठिनाई को कैसे समझ सकती थी? परन्तु शीला का वैराग्य और गम्भीरता देख कर उसको फिर कुछ कहने का साहस

न हुआ। कुछ देर खड़ी-खड़ी सोचती रही, फिर शीला का हाथ पकड़ कर बोली—'चलो जीजी, यहाँ अकेले बैठे मन नहीं लगता होगा। ऊपर से दावत का तमाशा देखेंगे।'

'भई मुझे यहीं रहने दो, तुम देख आओ।'

'नहीं तुम भी चलो, भैया के साथी आये हैं, जो बड़ी मीठी बाँसुरी बजा रहे हैं।'

'मुझे भीड़-भाड़ अच्छी नहीं लगती विद्या।'

'परन्तु हम सबसे अलग बैठ कर तमाशा देखेंगे। वह देखो, उस छत पर रोशनदान है, वहीं से।'

कह कर बालिका ने युवती का हाथ पकड़ कर उसको उठा लिया। दोनों रोशनदान से उपस्थित जनसमुदाय को देखने लगीं। कुछ दूर पर एक टोली बांसुरी की धुन में झूम रही थी। विद्या ने शीला से कहा—'वह देखो, भैया के प्रोफेसर बैठे हैं। खद्दर के कपड़ों में भी कैसे जँच रहे हैं, जैसे तारों में चाँद। ठीक है न जीजी?'

'हाँ!' शीला के शरीर में बिजली सी दौड़ गयी। शरीर काँप उठा।

विद्या ने विस्मय से कहा—'यह क्या जीजी, तुमतो काँप रही हो, क्या ठण्ड लग रही है?'

'नहीं तो। कभी-कभी यों ही हो जाया करता है। अच्छा अब तुम देखो, मैं जाती हूँ।'

'नहीं थोड़ी देर तो और बैठो।'

'विद्या!'

'हाँ जीजी!'

'एक बात पूछूं सच-सच बताओगी ?'

'अवश्य।'

'इन्हीं के साथ तुम्हारे विवाह की बात चीत, मामाजी ने चलाई थी ?'

बालिका ने लज्जा से सिर झुका लिया। सोचा इन्हें कैसे पता चल गया ?

'बोलो' अभी तो तुमने कहा था, कि सच बतलाऊंगी। अरी बावली, मन की बात छिपाने में बड़ा कष्ट होता है।'

विद्या चकित हो कर शीला की ओर देखने लगी ' मानों उसके चेहरे से कुछ पढना चाहती हो। शीला ने सोचा, लड़की बड़ी चञ्चल है। पूछा—'जल्दी बता ?'

'हाँ।'

'फिर क्या रहा ?'

'ये माने नहीं।'

'यदि मैं मना दूं तो ?'

'तुम क्या इन्हें जानती हो जीजी ?'

'खूब अच्छी तरह।'

यह सुनते ही बालिका लज्जा से दब-सी गयी और उसके सुन्दर मुख पर क्षणभर के लिये एक हलकी सी लाली आ कर विलीन हो गयी। वह चुप-चाप उठ कर चली गयी।

(५)

'नमस्ते शीला देवी, अच्छी तो हो ?'

'हां तुम तो अच्छे हो विनोद ? मेरे अच्छे होने न होने में

रक्खा ही क्या है ?' रमणी के नेत्र गीले हो गये।

'जीवित हूँ, किसी प्रकार दिन काट रहा हूँ।' बिनोद ने आँखों पर रुमाल फेरते हुए कहा।

युवती के नेत्रों में जल छलछलाने लगा। युवक ने फिर कहा—'यह तुम्हारी कैसी दशा हो गयी है शीला ? क्या तुम्हारा यह शरीर इस तरह धूल में मिलने के लिये था ? आह ! विधाता बड़ा निष्ठुर है।'

'धूल में मिल कर भी कुछ मिल ही जाता है, विनोद।'

'तुम बड़ी वाक्य चतुर हो।'

'तुमसे भी अधिक ?'

'हां।'

'अच्छा, तुमने यह क्या कर डाला ?'

'क्या ?'

'इतना रुपया मेरे नाम क्यों कर दिया ?'

'मैंने नहीं, वह तो तुम्हारा पहला ही था।'

'मुझसे ही बनते हो ?'

'तो किससे बनूं ?'

'विद्या से।' कहकर शीला ने अपने होठ दबा लिये।

'कौन विद्या ?'

'बसन्तलाल की कन्या।'

'मैं क्या जानूं उसको ?'

'तो क्या मैं जानूंगी ? उससे तुम्हारा विवाह होगा।'

'मेरा ?'

'नहीं तो क्या मेरा ?' कह कर युवती कुछ झेंपसी गयी।

'शीला यह तुम कैसी विचित्र बात कह रही हो ?'

'क्या ?'

'अपने विवाह की······यदि तुम ········

'नहीं नहीं, यह तो मैंने गल्ती से कह डाला है, मुंह से निकल गया।'

'क्या तुम गल्ती भी कर सकती हो? कभी की है गल्ती तुमने?

'क्यों गल्ती तो सभी करते हैं मैंने भी की होगी '

'कब की है ?'

'यह पूछकर क्या करोगी ? समझती हूँ कभी न कभी अवश्य की होगी।'

'अच्छा न बतलाओ, पर मैं अब तुम्हें वहाँ न जाने दूंगा। रतन कहता था कि तुम्हें वहाँ बहुत तकलीफ होती है।'

'वाह ! मैं तो जरूर जाऊंगी।'

'मैं जाने दूंगा तब न ?'

युवती का सारा शरीर सिहर उठा। बोली—'मेरी इच्छा पर निर्भर है यह तो।'

युवक ने उदास होकर कहा—'शीला, मैं बचन दे चुका हूँ, कि कभी कोई ऐसा काम न करूंगा, जिससे तुम्हें दुःख हो ! परन्तु तुम मुझे न जाने कैसा समझती हो ?'

'यह जान कर क्या करोगे कि तुम्हें कैसा समझती हूँ ? पर मैं देख रही हूँ कि तुम मुझे बदनाम कराकर छोड़ोगे।'

'छोड़ूंगा ? क्या मैं इतना नीच हूँ ?'

'फिर वही बात ? मुझे ऐसी बातों से दुःख होता है।'

'शीला, क्षमा करना, मैं चतुर नहीं। पर क्या मैं सुरेश के नाते भी तुम्हारी कुछ सेवा नहीं कर सकता? वह मेरा मित्र था। उसने स्वयं मुझे वह अधिकार दे दिया था, जो तुम छीन रही हो। हम तुम दोनों मिल कर देश की सेवा में जीवन लगा देंगे। मैं सिर्फ तुम्हें सामने देखना चाहता हूँ और कुछ नहीं।'

'सच?'

'विश्वास नहीं होता?' युवक ने मुस्कराकर पूछा।

शीला के हृदय पर छांटासा लगा। बोली—'विश्वास तो है।'

'तब?'

'तुम अपना विवाह कर लो।'

'फिर क्या होगा?'

'मैं तुम्हारे पास रहूँगी।'

युवक ने उदास होकर क्षण भर पीछे कहा—'अच्छा. एक बात पूछूँ, सच-सच बताना।

'पूछो।'

'देखो, सच-सच बतलाना।'

हां-हां पूछो तो।'

'तुम्हें दुःख न होगा?'

'मुझे दुःख किस बात से होगा?'

'कैसी भोली बन रही हैं! मेरे विवाह से।'

'हटो, मैं तुमसे नहीं बोलती।'

युवक चक्कर में पड़ गया। युवती के हृदय में कुछ चुभसा गया। इसी समय विद्या ने तेजी से आकर कहा—'जीजी!'

परन्तु विनोद को देखते ही पहले विद्या दो कदम पीछे हटी और फिर बिना कुछ कहे ही भाग गई। शीला ने कहा—'देखा?'

'क्या ? मैं तो जो बहुत दिन पहले से देखता आ रहा हूं, वही आज भी देख रहा हूँ मुझे व्यर्थ ललचाने की चेष्टा न करो, शीला। तुम असफल रहोगी।'

'तो मेरा उद्धार करना स्वीकार नहीं ?' युवती ने तीव्र शब्दों में अधिकारोचित भाव से कहा।

'मैं अपने को भाग्यशाली समझूंगा।'

'तो फिर यही शर्त है, बोलो स्वीकार है ?'

'और कोई उपाय नहीं है ?'

नहीं।'

'सोच देखो।'

'मैंने सब सोच लिया है।'

'पछताओगी।'

'देखा जायगा।'

'पहले तुम्हें चलकर रहना होगा।'

'अच्छा। पर तुम न माने तो तुम्हें भी पछताना होगा।'

'तो अब जाऊं न ?'

'हां जाओ, कभी कोई कुछ कहने लगे।'

'तो लो, मैं नहीं जाता। तुम न जाने इतना क्यों डरती हो ?'

'नहीं अब जाओ। कल आ सको तो आना।'

'कल चलोगी ?'

'कल ? फिर कभी सही। कल आओगे न ?'

'हाँ।'

शीला को बनारस आए दो महीने बीत गये। यद्यपि चुनार के मुकाबले वह यहाँ पर कुछ सुखी थी, परन्तु उसके हृदय के सूनेपन को कौन मिटाता ? वह कैसे दूर होता ? वह तो रात-दिन पति की स्मृति में ही डूबे रहना चाहती थी और करीब-करीब उसी में लीन रहती भी थी, किन्तु कभी कभी उसके अन्तरपट पर एक धुँधलासा चित्र प्रकट होकर उसके मन पर एक भारी बोझ सा रख देता था। शीला इस बोझ से बहुत डरती थी। और सदा उसकी ओर से आँख फेरे रहना चाहती थी। पन्द्रह दिन हुए विनोद का विवाह विद्या के साथ हो गया है। इस बीच विनोद ने कई वार शीला को बुलाया था, पर वह कुछ न कुछ बहाना करके टाल देती थी।

एक दिन शीला छत पर खड़ी बाल सुखा रही थी। इसी समय दासी ने एक पत्र देते हुए कहा—'जबाब मांगत हैं ठाकुर।'

शीला ने पत्र खोल कर पढ़ा। उसमें यह लिखा था--

'प्रिय शीला,

आज सात दिन से तुम्हारा इन्तजार कर रहा हूँ, पर तुम नहीं आईं। तुमने मुझे कहीं का न रक्खा जान पड़ता है तुम विश्वास-घात करना भी जानती हो, लेकिन याद रखना पछताओगी।

रतन कहता था, कि तुम विद्या से मिलना नहीं चाहती। उसके साथ चली क्यों न आई ? मैंने ही तो उसको भेजा था। खैर, तैयार रहना, मैं शाम को चार बजे मोटर लेकर आऊंगा।

तुम्हारा—विनोद।'

पत्र पढ़कर शीला को पसीना आगया। दासी से कहा—'तू जा, कह देना कोई जवाब नहीं दिया।'

शीला सोचने लगी, अब मैं क्या करूँ? यह आफत मैंने अपने ऊपर क्यों ली? सोचा था, कभी कभी विद्या से ही मिल आया करूँगी, परन्तु मैंने उनके लिये तो जो किया अच्छा ही किया। हां, कभी-कभी ऐसा जरूर प्रतीत होता है कि हृदय से कोई वस्तु निकल गयी है। मेरा कुछ खो गया है। मैं तो समझती थी कि अब मेरे पास कुछ रहा ही नहीं है। फिर यह पीड़ा कैसी? प्रभो, मेरी रक्षा करो, मुझे अपनी शरण में लो, मैं बड़ी अभागिनी हूँ। पुरुष तो अपने मन की बात कह भी देता है, पर नारी में इतनी लज्जा भरी हुई है कि उसको चुप ही रहना पड़ता है। वे तो उसी वक्त पूछ रहे थे, कि तुम्हें दुःख न होगा? आह! बड़ी पीड़ा है। मुझे उसी समय मर जाना चाहिये था, पर मैं अभागिनी मर भी न सकी। अब क्या करूँ? वहाँ रहना हृदय को क्या असह्य न होगा? और फिर जाऊँ ही कहाँ? विनोद पर शंका करना ठीक नहीं। वे बड़े सच्चरित्र हैं। मैं ही पापिनी हूँ। हाँ, यह हो सकता है कि विद्या को छोटी बहन समझ कर उसके पास रहते हुये जीवन काट दूँ, पर इसमें निन्दा तो न होगी? अब तो वे अकेले नहीं हैं। पर मुझे डर क्यों लगता है? लोग तो यों ही कह दिया करते हैं। हिन्दू समाज विश्वास करना नहीं जानता। मुझसे अपवाद न सहा जायगा। फिर कुछ देर बाद निश्चय किया—कुछ भी हो आज मैं जाऊँगी अवश्य। न जाने वे अपने मन में क्या कहते होंगे? उपकारी को धोखा देना भी

ठीक नहीं है। न होगा शाम को लौट आऊँगी। शीला अपनी मामी के पास जाकर बोली—आज मैं विद्या से मिल आऊँ ?'

'हां हां, क्या हर्ज है बेटी, वह तो अपना ही घर है। शाम हो गइ है, क्या वह लौटने देगी ? वह तो तेरे ही परताप से ऐसे सुख में गयी है ? तुझे जनम भर असीसेगी। विनोद ने तो पहले इन्कार ही कर दिया था।'

शीला अपने कमरे में चली गई। उसी समय उसको विनोद के पत्र का ध्यान आया। फिर छत पर गई। पत्र जीने में पड़ा था। शीला ने उठाकर फिर पढ़ा। सोचा वे बड़ी गलती कर डालते हैं, कोई देख लेता तो ?

इसी समय मोटर का हार्न सुन पड़ा। शीला नीचे उतर आई। उसके मनकी आज विचित्र दशा होरही थी। जिसको उसका हृदय अपनाना चाहता था, उसी को छोड़ने के लिये हठ कर रहीं थी। कैसी बिडम्बना है यह ? हिन्दू परिवार की कन्या का जीवन कितनी विवशताओं से दबा रहता है ? शीला का आदर्श कहता था--संसार तेरे लिये शून्य है। हृदय कहता था—नहीं उसमें एक हलकी सी प्रकाश की रेखा है। बुद्धि कहती—उससे दूर रहो, कहीं भस्म न हो जाओ। प्रेम कहता—मैं उसको छूता थोड़े ही हूँ, दूर से ही देख रहा हूँ। आदर्श ने कहा—डूब मर, अब तेरा रक्खा ही क्या है ? मन कहता—मरना तो सबको एक दिन वैसे भी है ही। बुद्धि ने कहा—तू विश्वासघातिनी है। हृदय ने कहा—नहीं, मैं उसे बहुत दिन से जानता हूँ। और सुरेश ? आह, उसके ऊपर तो यह योग ही साधा है। इसी तरह

सोच विचार में डूबी हुई शीला चादर ओढ़ कर मोटर में जा बैठी।

(७)

विद्या की ठुड्डी पकड़ कर शीला ने कहा— क्यों, उदास क्यों हो विद्या ?'

नहीं तो जीजी।'

'वाह मुझसे ही छिपाती है ? जरा आइने में मुँह तो देख जाकर।'

'जीजी ?'

'क्यों बहन ?'

'मन नहीं लगता।'

'उनसे भी नहीं ? ऐसा अच्छा मन लगाने वाला कहाँ मिलेगा पगली ?'

'जीजी ऐसी बात न कहो, मैं उन्हें तो कुछ नहीं कहती।'

बालिका ने मस्तक झुका लिया। शीला ने उदास होकर कहा—'फिर मन क्यों नहीं लगता ?'

'जीजी, अब मैं तुम्हें कहीं न जाने दूँगी, अन्यथा मेरा समय अच्छी तरह न बीत सकेगा। मुझे डरसा लगता रहता है।'

'यह क्या तू अपने ही मन से कह रही है विद्या ? मैं तो कभी-कभी आया ही करूँगी। फिर निरन्तर एक जगह रहना भी तो ठीक नहीं होता। सम्भव है, कोई असुविधा खड़ी हो जाय।'

मेरी समझ में तो तुम्हारी बातें ज़रा भी नहीं आतीं। न

जाने क्या पहेली सी कहा करती हो। पर आज तो मैं तुम्हें किसी तरह भी न जाने दूँगी।'

'हाँ! तभी तो उन्हें भेजकर मुझे पकड़वा मंगाया है। जो मैं कुछ कह भी न सकूँ।'

'मैं उन्हें क्यों भेजती? वे तो स्वयं ही बुलाने को छटपटा रहे थे।

शीला इन शब्दों से कुछ प्रसन्न न हुई। बल्कि दुखित होकर बोली—'अब मैं चली जाती तो अच्छा होता। वे गये कहाँ हैं? ओ, याद आया, कहते थे कि टी पार्टी में जा रहा हूँ।'

'तुम न आती तो मुझे बड़ा डर लगता। अब रात होने वाली है न?'

'क्यों डर की क्या बात है?'

'कोई खास बात तो नहीं है।'

'फिर भी?'

'न जाने क्यों, रात को अकेले में डर लगता है।'

'अकेले में? तो क्या वे..........'शीला इससे आगे कुछ न कह सकी।

'वे कहते थे जीजी कि एक व्रत है, जब वह पूरा हो जायगा.... ....' कहते-कहते बालिका ने सिर झुका लिया।

शीला पर बज्रसा गिरा। बोली—'वे तो बड़े हँस मुख थे, फिर ऐसी विरक्ति क्यों? तू भी तो उस दिन इनकी बड़ाई कर रही थी।'

'ऐसा पति तो बड़े भाग्य से मिलता है जीजी?'

शीला ने एक हलकी सी चपत उसके गालपर रख दी और एक ठंडी आह खींच कर बोली—'अच्छा, किसी से इक्का ही मँगादे। मैं अब जाऊँगी, नहीं तो मामी नाराज़ होने लगेंगी।'

नाराज क्यों होंगी? क्या यह तुम्हारा घर नहीं है? फिर वे तो तुम्हें अपने सिर की कसम दिला गये हैं।'

शीला को काठ मार गया। बोली—'तुमने कहाँ सुनी?'

'मैं तब छज्जेपर खड़ी थी, जब तुम मोटर से उतरी थीं।'

'तू बड़ी बातून हो गई है।'

बालिकाने झपकर कहा—'पर मैं तुम्हें किसी तरह भी जाने न दूँगी।'

'तो तुम दोनों मिल कर मेरा क्या करना चाहते हो?'

'सेवा!' दरवाजे पर खड़े हो कर विनोदने कहा।

शीला ने शरमा कर सिर झुका लिया। विद्या वहाँ से भागना चाहती थी, पर शीला ने उसका आँचल पकड़ कर वहीं बैठा लिया। बोली—तुम मुझसे दुराव करती हो तो मैं भी जाती हूँ।

शीला खड़ी हो गयी। विनोद ने कहा—'बैठ जाओ कहो तो मैं पकड़कर बैठा दूँ?'

शीलाने तीव्र दृष्टि से विनोद की ओर देखकर कहा—'तुम दोनों मुझे कैद करके रखना चाहते हो?'

'हम दोनों नहीं, मैं अकेला ही बहुत हूँ।' विनोद ने विरक्ति से कहा।

शीला चुप हो गई। इसी समय रतन ने आकर कहा—

'चलो जीजी।'

विद्या ने दृढ़ता से कहा—'पर मैं तो आज इन्हें यहीं रक्खूंगी।'

विनोद ने सहारा पाकर विद्या की ओर कृतज्ञता से देखा। रतन हार कर थोड़ी देर में चला गया। शीला ने कहा—'मैं प्रातःकाल अवश्य चली जाऊंगी।'

इस पर पति-पत्नी दोनों हँसने लगे।

(८)

शीला को विद्या के पास आये कई दिन हो गये थे। उसके हृदय में रह-रह कर एक तूफान सा उठता रहता था। न जाने क्यों, पल भर को भी चैन न पड़ता। बहुत सी बीती बातें याद आकर उसको विकल कर देती थीं। अपनी चारपाई पर करवट बदल कर शीला ने कहा—'आह!'

पास ही विद्या पड़ी थी। उसने कहा—'क्या नींद नहीं आती जीजी?'

'नां, क्या तुम भी जग रही हो?'

'अभी आँख खुली है। कोई कहानी तो कहो जीजी।'

'कहानी? कहानी तो मुझे आती नहीं विद्या।'

'नहीं एक तो कह ही दो।'

'अच्छा सुनो—एक राजा की बेटी थी और एक था राजा का बेटा। उन दोनों में बड़ा प्रेम था। लड़का तो अपने मन की बात कह लेता था, पर लड़की कहना न जानती थी। उनकी कभी खेलने में भी लड़ाई नहीं हुई, ऐसा प्यार था। लड़की के बाप न था, मां थी और लड़के के मां न थी बाप था। इसलिए लड़की

की मां लड़के को बहुत प्यार करती थी। जब वे दोनों बड़े हुए, तो मां ने अपनी लड़की का ब्याह उसी राजा के लड़के से करना चाहा।'

शीला यहाँ तक कह कर चुप हो गयी। विद्या ने कहा—'फिर'

'फिर उन दोनों का विवाह न हो सका। क्योंकि राजा ने मन्जूर न किया।'

'अरे! फिर?'

'उस लड़की का विवाह किसी दूसरे से हो गया। भारतीय ललना पति की सेवा में लग गयी। कुछ दिन बाद उसका पति बीमार रहने लगा। अन्त में एक दिन वह विधवा हो गयी। इसी समय राजा के लड़के ने उसको अपने पास रखना चाहा। ये दोनों अभी तक एक दूसरे को भूले न थे। परन्तु लोक-निन्दा के भय से लड़की ने मना कर दिया।'

'तब?'

'फिर उसने जबर्दस्ती राजा के लड़के का विवाह करा दिया। कहा कि ऐसी स्थिति में मैं तुम दोनों के पास रह कर सेवा करूंगी।'

'हाय, वह अभागिनी इतना दुःख सह कर भी जिन्दा रह सकी जीजी?'

शीला किसी सोच में पड़ गयी। कुछ देर बाद बोली—'तो क्या वह मर जाती? और मरती भी तो कैसे मरती?'

'क्यों, क्या मरने के लिये भी कुछ करना पडता है? और उस राजा के लड़के का ही कैसा प्रेम था, जो दूसरा विवाह कर

बैठा ? अच्छा होता, वे दोनों मर जाते या एक दूसरे को भूल जाते ।'

शीला के हृदय में बर्छी सी छिद गयी । इधर विद्या भी किसी सोच में लीन हो गयी । फिर कुछ देर बाद बोली—'बड़ी अच्छी कहानी कही जीजी, एक और सुनादो । यह तो बहुत छोटी थी ।'

'अच्छा तुम मुझे कागज-कलम दे सकती हो ?'

'हां, परन्तु इस समय क्या लिखोगी ?'

'एक बात । कुछ देर बाद तुम भी पढ़ लेना ।'

विद्या ने कागज कलम ला कर शीला को दे दिया । शीला ने लिखा—'मैंने अपनी इच्छा से अपनी अँगूठी का हीरा खा लिया है। अपनी मृत्यु की मैं खुद जुम्मेदार हूँ । —शीला कुमारी।'

पत्र लिख कर शीला ने अपने तकिये के नीचे रखना चाहा पर विद्या ने छीन कर पढ़ लिया । इसी समय शीला के मुंह से खून गिरा । विद्या ने अपना माथा पीट लिया । दूसरे कमरे से विनोद ने भर्राए हुए गले से कहा—'क्या तुम्हारी कहानी समाप्त हो गयी शीला ?'

विद्या ने चीख कर कहा—'ज़ल्दी दौड़ो, जीजी ने विष खा लिया है ।'

विनोद पागल की तरह दौड़े आये । बोले—'हाय शीला, तुमने यह क्या कर डाला ?'

फिर शीला का मस्तक अपनी गोद में रख कर बोले—'तुम रामधन को जगा कर डाक्टर के यहाँ भेजो ।'

विद्या रामधन को जगाने चली गयी । वह रास्ते में सोचती

जा रही थी, कि यह कहानी थी या सच्ची बात ? वहाँ से लौट कर विद्या ने देखा शीला के अधखुले नेत्रों से एक अनिर्वचनीय सुख की झलक निकल रही है और ओठों पर मधुर-मुस्कान नृत्य कर रही है। विद्या ठगी हुई सी वह दृश्य देखने लगी।

विनोद ने शीला को सम्बोधन कर कहा—'एक बार तो बोलो रानी। मुझे क्या पता था कि तुम अपनी कहानी का अन्त इस तरह करोगी ? मुझे तो तुम्हारे लिये खुल कर रोने का भी अधिकार नहीं है! न जाने कब से आँखों के आँसू ही सूख गये हैं।'

इसी समय विद्या ने आ कर कहा—'रामधन तो आया ही नहीं।'

इस बार विनोद का सिर शीला की छाती पर था और शीला का हाथ न जाने कब उनके सिर पर आ पड़ा था। दोनों चुप थे। दोनों किसी सुख की सरिता में डूब रहे थे। विद्या ने आगे बढ़ कर विनोद को छूना चाहा, पर छूने का साहस न हो सका वह घबरा उठी और एक जोर की चीख मार कर गिर पड़ी।

इस समय उस मूक प्रेम का नग्न रूप देखने और उसके मर्म को समझने वाला वहाँ कोई न था।

— —

अन्तिम सहारा

— १ —

शृंङ्गार मेज के सामने खड़ी द्रौपदी बालों में कंघी कर रही थी। इसी समय मसली हुई कुसुम-कली के जैसे आनन वाली स्वेत वस्त्रा लोला ने वहाँ प्रवेश किया और कहा—'आज क्या क्या बनेगा बहन ?'

'यह भी कोई पूछने की बात है ? तुम्हें इस घर मे आए कितने दिन होगए, पर अभी तक दोनों समय पूछे बिना तुमसे भोजन नहीं बनता ?' द्रौपदी ने तनिक आइने के सामने झुककर माँग निकालते हुए कहा। लोला खड़ी-खड़ी अपनी देवरानी की ओर देखने लगी। इसका कारण यह न था, कि लोला ने आज कोई नई बात सुनी थी। ऐसे उत्तर तो उसे सदा ही मिला करते थे पहले दो-चार दिन देवरानी का यह रूखा व्यवहार अखरा था पर अब अभ्यास होगया है और उसकी बातों को सुनी-अनसुनी करके अपने काम में लग जाती है। कुछ देर तक लगातार लीला को अपनी ओर देखते हुए देख कर द्रौपदी उबल पड़ी। बोली—'क्या आज मैं नई बन कर आई हूँ कि जो मुझे आँखें फाड़-फाड़ कर देख रही हो ? या अब कुछ कम सुनने लगी हो ? अम्मां खुद तो गंगा जी पर जा बैठती हैं और मेरी जान

आफत में फँस जाती है। दिन-रात किल किल होती रहती है। वे अकेले कमाने वाले हैं, दो आदमियों को छोड़ परिवार में कोई अपना आदमी नहीं, फिर वक्त पर रोटी नहीं मिलती। इतना दिन चढ़ गया, कचहरी जाने का समय नज़दीक है, पर यहाँ अभी यही निश्चय नहीं हुआ कि क्या बनाना है।'

अपनी देवरानी के इस लम्बे भाषण को सुन कर लीला मानो सोते से जग पड़ी। ठीक तो है, आज वह द्रोपदी की वेष-भूषा को इस तरह ध्यान लगाकर क्यों देख रही थी? बात यह थी, कि द्रोपदी के छोटे-छोटे बाल और टेढ़ी-मेढ़ी माँग बार-बार खराब होकर लीला को विचलित कर रही थी। उसकी इच्छा थी कि मैं उसकी माँग अपने हाथ से ठीक करदूं। पर उसका साहस न हुआ और गृहणी की तीखी बातों मे उसका ध्यान भंग होगया। वह कुछ बिना उत्तर दिए ही कमरे मे बाहर होगई और रसोई घर में जाकर भोजन बनाने में जुट गयी। अरहर की दाल, चावल, दो सब्ज़ी, चटनी आदि सामान तैयार करके महरी से बोली—'जाकर कहदे, भोजन तैयार होगया।'

द्रौपदी पति के भोजन का थाल लेने आई तो देखा, लीला आंचल से आंखें पोंछ रही है। बोली—'क्या रो रही हो?'

'नहीं रोऊंगी क्यों, आज गरमी बहुत है, इससे आंखें जल रही हैं।' कह कर लीला शीघ्रता मे भोजन परोसने लगी।

बाबू जगतनारायण कमरे में बिजली के पंखे के सामने बैठे भोजन कर रहे थे और बनाने वाली की प्रशंसा कर रहे थे। बोले—'भाभी मुझसे परदा करती हैं, आज मैं स्वयं उन्हें धन्य-

वाद देकर आता ’

पति की थाली में चावल रखते हुए द्रौपदी ने कहा—‘परदा करना तो कोई बुरी बात नहीं है। तीसरे ब्याह की भावज हैं, कम उम्र और विधवा। रूप निगोड़ा भी फटा पड़ता है। यदि कल-कला को कुछ नेक बद होगया, तो मुंह काला किसका होगा ?’

पत्नी की बात सुन कर बाबू साहब के हाथ का ग्रास हाथ में ही रह गया। वे विस्मय-विस्फारित दृष्टि से पत्नी की ओर देखते हुए बोले—‘छि: ऐसी बात कहते तुम्हें लज्जा भी नहीं आती ?’

बाबू साहब ने घृणा से दूसरी ओर मुंह फेर लिया और शीघ्रता से भोजन समाप्त कर कचहरी चले गये। द्रौपदी भोजन करने बैठी, लीला से बोली—‘आज तुम्हारे देवर ने बड़ी प्रसन्नता से खाना खाया है। तुम्हें बहुत धन्यवाद दे रहे थे। दाल में नमक इतना झोंक दिया कि अच्छी तरह खाई भी नहीं गयी। साग दोनों कच्चे थे और चटनी न जाने कैसे कड़ुई हो गई।’

लीला के मुंह से एक भी शब्द न निकला। वह आँखें फाड़-फाड़कर देवरानी के मुंह की ओर देखने लगी। आज उसका मन ठिकाने न था। हृदय रह-रहकर पीपल के पत्ते की तरह काँप उठता था। बोली—‘अपनी समझ में तो मैं सभी चीजें अच्छी बनाने का प्रयत्न करती हूँ, परन्तु न जाने यह उलट-फेर क्यों हो जाता है।’

लीला हाथ धोकर चौके से बाहर निकल आई। द्रौपदी ने यह देखकर कहा—‘क्यों कहाँ चली ? खाओगी नहीं क्या ?’

'नहीं, आज तबीयत अच्छी नहीं है।'

'क्यों, क्या बात है ?'

'यों ही कुछ गड़-बड़ है। अम्मांजी यहाँ आ जाँय तो मैं कुछ दिन के लिये भैया के पास जाने की बात सोच रही हूँ। उनकी कई चिट्ठियाँ आ चुकी हैं।' कहते हुए लीला अपनी कोठरी में जा पड़ी। यह देख कर द्रौपदी को चिन्ता हुई कि शायद शाम तक यह ठीक भी होगी या नहीं। नहीं तो मुझे ही चूल्हे में झुकना पड़ेगा।

— २ —

लीला का शरीर तुषार पीड़ित लता की भाँति, दिन-प्रति-दिन क्षीण होने लगा। उसके अङ्ग भी सूख गये थे और मन भी। उसके हृदय में सदा एक प्रकार का अभाव तूफान मचाए रहता था। एक प्रकार की कसक उसे सदा बेचैन किये रहती थी। इधर देवरानी के कठोर व्यवहार से उसकी सहनशीलता भी सीमा के पार पहुँच गई थी। इसी कारण स्वभाव में कुछ उच्छृ-ङ्खलता आ गई और भय विरक्ति में परिणत होने लगा। उसके मस्तिष्क में कभी विचारों की बाढ़ आती, तो घण्टों सोचती रहती और घर के अन्य मनुष्यों से अपनी तुलना करती। सोचती 'घर के और लोग तो अपनी इच्छानुसार खाते-पीते, बैठते-उठते और काम करते हैं, पर मैं ही एक ऐसी हूँ, जिसकी प्रत्येक गति-विधि पर आलोचनात्मक दृष्टि डाली जाती है। सुबह उठने में जरा देर हुई नहीं कि कुम्भकर्ण आदि से उपमा दी जाने लगती है। कभी जीभ पर कुछ खटाई या मिठाई रख लेती हूँ, तो वह

तामसी भोजन होजाता है। धुला हुआ साफ कपड़ा पहनना घोर पाप है। द्रौपदी के कहने की उसे परवाह न थी, किसी और आदमी के कहने की भी उतनी चिन्ता न थी, पर सास की कुपित दृष्टि उससे सहन न होती थी। पहले कुछ दिन तक उसने सास का व्यवहार सहने की कोशिश भी की, परन्तु उत्तरोत्तर बढ़ने वाली कठोरता ने उसके धैर्य के पौदे को पनपने न दिया।

लीला साधारणतः भले घर की कन्या थी। द्रौपदी के मायके से उसका मायका बहुत अच्छा नहीं था, तो गिरा हुआ भी नहीं था। उसके पिता की मण्डी में बड़ी दूकान थी। लेन-देन का काम भी करते थे। मतलब यह है कि उनकी काफी साख थी और वे अच्छे प्रतिष्ठित समझे जाते थे। लीला की माता उसको बहुत छोटी को छोड़कर परलोक सिधार गई थी। इसके बाद बिमाता ने ही उसका लालन-पालन किया। एक छोटा भाई था। वह शिक्षा में बहुत बढ़ी-चढ़ी न होने पर भी एकदम मूर्खा न थी। अपने भाई के साथ वह स्कूल जाती थी। वहाँ उसने हिन्दी और हिसाब-किताब की शिक्षा पाइ। भाई उससे विशेष प्रेम करता था। मां का व्यवहार भी अच्छा ही था। लीला किसी की आँखों की पुतली चाहे न बनी हो, पर अपने सद्व्यवहार से किसी के हृदय में कंटक का भान भी न होने देती थी। इस तरह उसके बचपन के दिन एक प्रकार से अच्छे ही कटे थे।

पर अब? अब वह एक परिवार के लिये भारी बोझ सी हो रही थी। दिन रात डाट-फटकार के शब्दों के सिवा उसके कानों में एक भी शब्द प्रवेश न करता था। मानों उसने मनुष्य

योनी में जन्म ही न लिया हो। इसी कारण उसके हृदय में बेचैनी-सी रहती थी। उसकी इस अशान्ति का मूल कारण उसका वैधव्य था। इस कच्ची अवस्था में वैधव्य की यातना सहना उसकी शक्ति से बाहर की बात थी। बड़ी-बूढ़ियों की भांति गाल पर हाथ रक्खे बैठे रहना उसे जरा भी न भाता। हमजो-लियों को देख कर लीला के मन में चञ्चलता ताक-झाँक करने लगती थी। पर पास पड़ौस के बच्चों के हाथों में मेंहदी लगाये बिना उसे चैन नहीं पड़ता था। अपने सूने माथे की उसे कभी चिन्ता न होती, पर लड़कियों का सूना भाल उससे देखा न जाता। उनकी चोटी गूँथ कर जूड़े में फूल लगा देना उसे बड़ा भला लगता था। चूड़ी चढ़ाने और मेंहदी लगाने में भी वह एक ही थी। यह सब कुछ था, पर लीला के लिये यह संसार सूना था। बेचारी विवाह के चार मास बाद ही विधवा हो गई थी। उस समय उसको यह ज्ञान न था कि वैधव्य कितना कठोर होता है। इस समय तक उसकी सभी सहेलियों के विवाह हो चुके थे। उनके पतियों में से किसी के अनुरूप भी उसका दूल्हा न था। लीला के पति कुछ अधिक गम्भीर और प्रौढ़ थे। विवाह के बाद विदा होकर जब वह पिता के यहाँ पहुँची तो उसको केवल यही तसल्ली थी कि उसकी ससुराल की आर्थिक अवस्था बुरी न थी। घर में दास-दासी थे, सजे-सजाए कमरे थे। खाना मिसरानी बनाती थी। जेवरों की भी कमी न थी। विशेष-कर माथे की जड़ाऊ बेंदी और मोतियों की माला उसे खूब भाई थी। परन्तु विवाह के बाद इन चीजों को पहनने का तो क्या

देखने का सौभाग्य भी उसे प्राप्त न हुआ था।

लीला के पति जमींदार भी थे और तहसीलदार भी। सब सोच रहे थे कि अब की बार ससुराल पहुँचते ही लीला पति के साथ चली जायगी। परन्तु उसके लिये ऐसा समय ही शायद विधाता ने नहीं सिरजा था। पति के साथ जाने का अवसर आने से पहले ही उसका सौभाग्य सूर्य अस्त हो गया। इसके बाद लीला को जीवन्मृत की उपाधि दे दी गई।

लीला के विधवा हो जाने के बाद, उसके सञ्चित स्वप्नों की रानी द्रौपदी थी। कभी-कभी उसे ऐसा प्रतीत होता कि द्रौपदी ने उसका स्थान छीन लिया है। जब द्रौपदी की तीखी झिड़की उसके कलेजे में बरछी की तरह जाकर लगती, तो उसका यह भाव और बढ़ जाता था। पर वह असमर्थ थी। चौके-चूल्हे का भार उठाना उसका आधार था और देवर का थोड़ा-बहुत यत्न जीवन का अवलम्ब। वकील साहब कभी कभी लीला की आवश्यकता समझने का प्रयत्न करते, तो उसमें भी एक प्रकार की जलन और तिरस्कार मिला रहता था। न तो वकील साहब उससे स्नेह प्रकट कर सकते थे और न उस स्नेह का बोझ लीला सम्हाल ही सकती थी। द्रौपदी ने जब मिसरानी को छुट्टी दी, तो वकील साहब ने इसका बहुत प्रतिवाद किया था, पर इस विषय में उनकी एक भी न चली। फिर भी घर भर में वे ही अकेले थे, जो हृदय से लीला की भलाई चाहते थे। वे कभी द्रौपदी से लीला की तारीफ कर देते, तो द्रौपदी लीला से इसका भर पूर बदला लेती थी। लीला से सास उतनी अप्रसन्न न थी,

जितनी द्रौपदी। यही कारण था कि द्रौपदी जब कभी वकील साहब की नाराजी के विषय में लीला के सामने कुछ कहती, तो उसको विश्वास ही न होता। वह सुनी-अनसुनी कर के टाल देती थी।

वकील साहब का स्वभाव मृदु और उदार था वे आधुनिक विचारों के सुधार प्रेमी होते हुए भी उन आदमियों में थे, जो मुंह से कम बोलना और समय पर काम कर दिखाना उचित समझते हैं। वे अपनी स्त्री से यद्यपि विरक्त न थे, पर एक दम अनुरक्त भी नहीं थे। द्रौपदी उन्हें प्रसन्न रखने में असमर्थ थी। स्वभाव भी कर्कश, उजड्ड और चिड़चिड़ा था। लीला की सीधी और जरा सी बात को बढ़ा-चढ़ा कर, उसके दोषों के रूप में सामने रखती। उस दिन भोजन के समय की बात ने वकील साहब को और भी अधिक गम्भीर बना दिया था। उनके नेत्रो के सामने लीला की दयनीय अवस्था का भयानक चित्र नाचने लगा। जब लीला को पिता के घर से बार-बार निमन्त्रण आने पर भी वह नहीं भेजी गई और द्रौपदी बिना बुलाए ही पिता के घर चली गई, तो वकील साहब को बहुत दुःख हुआ। वकील साहब ने न तो द्रौपदी को जाने से रोका और न माँ से इस विषय में कुछ कहा। इन घटनाओं से उनकी गम्भीरता और भी बढ़ गयी थी। द्रौपदी के 'मुँह काला किस का होगा।' शब्द उन्हें अपनी भावज के प्रति सहानुभूति न प्रकट करने देते थे। उन्होंने कई बार माता को समझाया और स्त्री से कुछ उदार बनने के लिये कहा, पर फल कुछ नहीं हुआ।

पत्नी के मायके चले जाने, लीला के निराश होकर वहीं रह जाने और बीमार होते हुए भी दिन भर काम में लगे रहते देखकर उनका हृदय रो उठा।

वकील साहब दो भाई थे, पर अब अकेले ही रह गये थे। उनके बड़े भाई ने जब तीसरे विवाह की तैयारी की तो उनकी राय इस पक्ष में न थी। क्योंकि एक तो वे सदा रोगी से रहते थे और उम्र भी कम न थी, परन्तु शङ्कोचवश भारी विरोध न कर सके। सन्तान के प्रश्न ने उन्हें बोलने का अवसर ही न दिया।

— ३ —

धीरे-धीरे लीला खाट से लग गई और उसकी कोमल काया पीली पड़ गई। अब उसे घर का कोई काम न करना पड़ता था। वकील साहब बड़े यत्न से उसकी चिकित्सा कराते थे। एक दासी भी लीला की सेवा के लिये रख दी गई थी। सास घड़ी आध घड़ी को आकर देख जाती। इस बीच द्रौपदी को बुलाने के लिये कई पत्र भेजे गये, पर वह न आई। लिख दिया, कोई मरे या जिये मेरी बला से, मेरी तबीअत वैसे ही गिरी सी रहती है। मैं तो सावन बिताकर आऊँगी।'

सास ने सुना तो प्रसन्नता से फूल उठीं। बोलीं—'जैसी उसकी इच्छा हो, वैसा करे। इन दिनों तो उसे प्रसन्न ही रहना चाहिये। मेरे लिये तो वह घड़ी सोने-रूपे की होगी, जब इस घर में बालक के कपड़े सूखते नजर आएँगे।'

बाबू जगतनारायण विरक्त होकर बोले—'अम्मा, समझ में नहीं आता कि तुम लोगों का हृदय पत्थर का बना हुआ क्यों

है ? स्त्रियाँ तो बड़ी दयालु होनी चाहिये, परन्तु भाभीजी के प्रति तुम दोनों का व्यवहार न जाने क्यों इतना निठुर है। मुझसे यह नहीं सहा जाता।'

'तो तू मुझको क्या करने को कहता है ? बेटे तू क्या समझ सकता है कि लीला को देख कर मेरे हृदय में कैसी आग जल उठती है ? मुझे क्या बहू बुरी लगती है ? मैं क्या नहीं जानती कि अभागिनी ने संसार में कुछ नहीं देखा ? फूल जैसी लीला धूल में मिल गई। जब मैं इसे देखने गई थी, तब कैसा सुहावना रूप था। सारी बस्ती में एक ही थी। पर क्या करूँ, यह आते ही मेरे लाल को निगल गई।'

'छि: अम्मा ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये। इससे परमात्मा को भी बुरा लगता है।'

वृद्धा कुछ शान्त होकर कहने लगी—'बेटा, ये बाल धूप में सफेद नहीं किये हैं। संसार बड़ा बुरा है। अभी इसकी उमर ही क्या है ? मैं इसे दबाकर न रक्खूँगी, तो कौन रक्खेगा। अभी से इसको दबने की आदत डालनी चाहिये, नहीं तो पीछे सम्हाले न सम्हलेगा। मैं यह जानती हूँ कि तुम्हारी बहू का व्यवहार लीला के प्रति अच्छा नहीं है, पर किया क्या जाय, इसे सारी उमर तुम्हीं लोगों में निकालनी है। मैं तो द्रौपदी को बहुत समझाती रहती हूँ, नहीं तो वह इसे फूटी आँख भी देखना नहीं चाहती। इसका बाप के घर भी तो कोई ठिकाना नहीं है, भैया, वहाँ भी सौतेली माँ है। और पीहर में रहकर न जाने कैसी मति हो जाय, यह भी डर है। बदनामी तो हमारी ही होगी।'

माँ के अन्तिम शब्दों ने पुत्र के कलेजे में बरछी सी मार दी। वे उत्तेजित होकर बोले—'अम्मा, ऐसे शब्द सुनते-सुनते तो मेरा हृदय पक गया है। मुझे रोना आता है, तुम्हारी बुद्धि पर और हिन्दू-समाज की मनोवृत्ति पर। तुम लोग विधवाओं का अस्तित्व ही मिटा देना चाहते हो? वह अब मनुष्य नहीं रही या उसके पास हृदय नाम की कोई वस्तु नहीं रही। उसको इस दशा तक किसने पहुँचाया है, तुम्हींने न। भाई साहब का तो तीन-तीन विवाह करने पर भी कोई कुछ न बिगाड़ सका, पर भाभी को जीवित ही पत्थर जैसा समझ रही हो। मुझसे उनकी यह दीन दशा नहीं देखी जाती। वह इस घर की मालकिन होते हुए भी दासी से गई-बीती अवस्था में रहती हैं। क्या इस व्यवहार से हमारी बदनामी नहीं होती?'

माता ने तीव्र आवाज़ से कहा—'तो तू उसे किस तरह रखना चाहता है?'

वकील साहब ने शान्ति से उत्तर दिया—'उसी प्रकार जैसे तुम्हारी दूसरी बहू रहती है।'

'यानी?'

वकील साहब चुप रहे। माता ने फिर कहा—'अरे बोलता क्यों नहीं, चुप क्यों हो गया? अभी तो मरने वाले की चिता भी ठण्डी नहीं हो पाई।'

'किन्तु यह दूसरी चिता जो तैयार होना चाहती है, अम्मा?'

'तो क्या तू इसका पुनर्विवाह करना चाहता है?'

'चुप रहो अम्मा, इतने जोर से ऐसी बात मत कहो। आज भाभी की तबीअत बहुत खराब है। मैंने यह निश्चय कर लिया है कि तुम्हारी छोटी बहू खुश रहे या नाराज, पर मैं भाभी को इस प्रकार घुल-घुलकर न मरने दूँगा। देवी के समान पूजा कर उसे आदर से रक्खूँगा।'

माता आँखें फाड़ कर पुत्र की ओर देखने लगी, पर वकील साहब तुरन्त ही उठकर बाहर चले गये। हृदय का आवेश मनुष्य की बुद्धि पर भी प्रकाश डालता है।

— ४ —

माता भोजन परोस रही थी और वकील साहब भोजन करने के लिये आसन पर बैठे थे। इसी समय रोगिणी की कोठरी से निकली हुई आर्त ध्वनि ने माता और पुत्र दोनों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लिया। जगत बाबू ने कहा—'देखना अम्माँ, क्या तकलीफ है। आज वैद्यजी कह रहे थे कि तीन दिन बीत गये, तो बचने की कुछ आशा हो सकती है। ज्वर का घटना-बढ़ना खतरनाक है। भगवान करे, ये तीनों दिन कुशल से बीत जायँ।'

'हाँ!' कह और एक लम्बी साँस छोड़कर माता खड़ी हो गई। वकील साहब भी जल्दी-जल्दी भोजन समाप्त कर भाभी के कमरे के दरवाजे के पास जाकर बोले—'क्या वैद्यजी को बुलाऊँ, अम्माँ?'

वृद्धा ने इस प्रश्न का उत्तर न देते हुए कहा—'जरा यहाँ आकर देखो भैया। इसकी आँखें, तो फटी जा रही हैं। पसीना भी बहुत है।'

'लेकिन भाभी तो मुझ से परदा करती हैं। तुम्हीं पूछो इन्हें क्या तकलीफ है ?'

वृद्धा का कठोर भाव इस समय न जाने कहाँ चला गया। स्नेह से बहू के सिर पर हाथ फेर कर बोली—'कैसा जी है बेटी ?'

बालिका कातर हो उठी। उसकी दीनता और भी मचल उठी। आह ! ऐसा स्नेह-शीतल स्वर पहले सुना होता ! प्यार की क्षीण रेखा भी कहीं देखी होती ! उसके नेत्रों से आँसू छलक पड़े। बुझने से पहले चमकने वाले दीपक की तरह बोली—'अम्माँ, मैं आपकी कुछ सेवा न कर सकी, कभी आपको प्रसन्न न रख सकी। मुझे क्षमा कर दो अम्माँ, नहीं तो मैं शान्ति से मर भी न सकूँगी।'

लीला रोने लगी। उसका साँस तेजी से चलने लगा और नब्ज धीमी पड़ गई। वृद्धा का धैर्य जाता रहा। पुत्र से बोली—'किसी को शीघ्र ही वैद्यजी के घर भेजकर तू यहाँ आ। मैं इसके माथे पर मलने के लिये देवी की भभूत लेकर आती हूँ।'

वृद्धा मन्दिर की ओर चली गई और वकील साहब नौकर को वैद्यजी के पास भेजकर लीला की चारपाई के पास आकर बैठ गये। उस समय उन्हें ऐसा प्रतीत हो रहा था, मानों पृथ्वी पैरों के नीचे से खिसकी जा रही है। जैसे कोई चोर अन-धिकार पूर्वक किसी के घर में घुस पड़ा हो, पर वहाँ स्वयं अपना ही कुछ गँवाने को बैठा हो। लीला ने बड़े कष्ट से मुँह पर आँचल डालने का प्रयत्न किया। साहस हीन युवक इस अवस्था में भी न तो उसकी कुछ सहायता ही कर सका और न कुछ

सान्त्वना ही दे सका। घबराई हुई दृष्टि से केवल उसकी ओर देखता रहा। इसी समय लीला को बड़े जोर से हिचकी आई। हिचकी के साथ ही मुँह से रक्त आया। अब जगतनारायण चुप न रह सके। उठ कर दवा की शीशी निकाली और लीला के पास जाकर बोले—'लो, थोड़ी सी दवा पी लो।'

इस समय लीला में बोलने की शक्ति न रह गई थी। उसकी चेतना और ज्ञान लुप्त हो चले थे। सहसा जगतनारायण की ओर वाली चारपाई की पट्टी पर रोगिणी ने हाथ दे मारा। मानो इस अन्तिम समय में भी वह किसी का सहारा ढूंढ़ रही है। उसके भूखे प्राण, इस संसार से प्रयाण करने से पहले, किसी की थोड़ी-बहुत सहानुभूति पाने की इच्छा रखते हैं। वकील साहब ने हतबुद्धि होकर लीला का सूखा कर-पल्लव अपने बलिष्ठ हाथों में ले लिया। इस अवस्था में भी मरने वाली के मुंह पर सन्तोष की क्षीण रेखा प्रकट हो उठी। उसके मुंह पर का आँचल न जाने कब खिसक गया था। जल हीन सूखे कमल पर कुछ नमीसी दीख रही थी।

इसी समय वृद्धा ने घर में प्रवेश करते हुए कहा—'यह क्या है?'

युवकने टूटे-फूटे शब्दों में उत्तर दिया—'अन्तिम सहारा।'

यह कहने के साथ ही वकील साहब के नेत्रों से दो बूंद आंसू टपककर लीला के निर्जीव हाथ पर जा पड़े।

पता नहीं, स्नेहवारि के ये कण वेदना की भट्टी में तपे हुए हृदय तक भी पहुँच सके थे या नहीं!

———

कागज की नाव

— १ —

कागज से बनी' नाव में कच्चे आटे का दिया जलाकर गोविन्द ने उसे बेतवा की लहरों पर छोड़ दिया और खुशी के मारे उछल कर बोला—देख अनुसुइया, मेरी नाव।

—अरे यह क्या ? उसमें तो पानी भर गया। लो अब वह डूब भी गई। यह कैसी अशुभ घटना हो गई गोविन्द·······

बालिका सहसा चुप होकर भविष्य के किसी चित्र की कल्पना में डूब गई।

बालक गोविन्द का मुँह उतर गया, परन्तु वह अनुसुइया के सामने अपने हृदय की कमजोरी प्रकट करने से पहले मर जाना अधिक पसन्द करता, इसलिये लापरवाही दिखलाता हुआ बोला—देखो अनू, शुभ अशुभ की इन लड़कियों की सी बातों पर मैं जरा भी विश्वास नहीं करता। भला, यह भी कोई अशुभ घटना की कल्पना है। लहरें तेजी के साथ चली जा रही हैं, मेरी हलकी-सी नाव भला उनके प्रबल आघात के सामने कहाँ तक ठहर सकती थी ? इसी से उलट गई। दिया थोड़ा बड़ा होता तो ठीक रहता।

—वाह तुम्हारी इस दलील में कोई सार नहीं है, लहरें प्रति-

दिन के जैसी ही हैं। देखो, मैं अपनी नाव तुम्हें अभी बहा कर दिखाती हूँ।

बालक ने कुछ मुँह चढ़ाकर कहा—दिया बड़ा और भारी रख लिया होगा।

—देखो गोविन्द, तुम मुझ से बिना बात का झगड़ा मत पैदा किया करो। देखो, यह दिया बड़ा है? यह कहकर बालिका ने आटे का बना दिया उसकी नाक से अड़ा दिया। थोड़ा-सा गीला आटा गोविन्द के ऊपर के होठ और नाक से लग गया। बालिका यह देख खिलखिला कर हँस पड़ी।

—अब मैं तेरे साथ खेलने कभी न आऊँगा।

—अच्छा न आना, परन्तु जरा मेरी नाव को बहते तो देख जाओ। देखा, कैसे मजे में जा रही है?

बालक सचमुच ही लौट पड़ा। बालिका 'यह देख मुस्कराई। इस समय अनुसुइया की नाव लहरों के साथ अठखेलियाँ करती हुई बड़ी तेजी से आगे बढ़ी चली जा रही थी। दोनों टकटकी लगा कर उसकी ओर देखने लगे। जब दिया दीखना बन्द हो गया, तो दोनों घर की ओर चल पड़े।

— २ —

खूब काली और बड़ी-बड़ी चार जामुनें 'अनुसुइया के हाथ पर रखकर गोविन्द ने कहा—आज सुबह मैं पिताजी के साथ सीता पाटी चला गया था, वहाँ जामुन बहुत फल रही हैं। हाँ अनू, एक बात तो बतलाओ, अम्माँ कहती थीं कि अबके दशहरे पर तुम्हारी मँगनी हो जायगी और विवाह भी जल्दी ही हो

जायगा। तब क्या होगा अनू ?

बालिका ने कुछ उत्तर न दिया। बालक फिर कहने लगा—लेकिन धीरे-धीरे सब भूल जाते हैं। इतने बड़े इंजिनियर की लड़की मामूली रेंजर के लड़के को याद करेगी, यह उसकी बड़े दुस्साहस की बात होगी।

उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही गोविन्द वहाँ से चलने लगा पर अनुसुइया ने उसे रोक कर कहा—ठहरो गोविन्द भैया, तुम ये पागलों के जैसी बातें क्यों किया करते हो ? सुसराल जाने पर क्या कोई लौट कर ही नहीं आता ? विवाह में धरा ही क्या है ? दो-चार दिन की धूम-धाम हो जाती है, बहुत-सा गहना कपड़ा मिल जाता है, यही न ? अब की काकी से पूछूंगी कि गोविन्द भैया की दुलहिन के लिए उन्होंने क्या-क्या बनवा रक्खा है।

यह सुन कर बालक हँस पड़ा। उसने अपने मन मे सोचा, कैसी अल्हड़ और कितनी भोली है यह। विवाह गहने-कपड़े के लिये ही होता है। अनु में अभी तक जरा भी समझ नहीं आई। इसकी उम्र तो मेरे बराबर ही होगी, बराबर न सही, एक दो वर्ष छोटी होगी। कुछ भी हो, बारह-तेरह वर्ष से किसी तरह कम नहीं हो सकती। प्रकट में बोला—विवाह करना लड़कों के लिये अत्यन्त आवश्यक तो नहीं है अनु। हाँ, लड़कियों की बात दूसरी है; लड़कों का विवाह खाँड का बताशा नहीं है जो पानी में डालते ही घुल जायगा। पढ़ो-लिखो चार पैसे जोड़ो लायक बनो, इतने पर भी विवाह होना कोई जरूरी बात नहीं। इसके बिना भी मनुष्य जिन्दा रह सकता है।

अनुसुइया इतनी देर से मानों स्वप्न देख रही थी जो अब एकाएक सचेत होकर हँस पड़ी और इतने जोर से हँसी कि उसकी गूंज बड़ी दूर तक जा पहुँची। बोली—डींग मारने में लड़के ही बहुत तेज होते हैं। मैंने बहुत देखे हैं। भला कहीं ऐसा भी हो सकता है ?

—हो सकता है।

—कभी नहीं।

—अच्छा समय आने पर देख लेना।

—तुम्हारे जैसे मैंने बहुत देखे हैं गोविन्द।

अचानक गोविन्द का मुँह देख कर बालिका सहमसी गई। उसने देखा कि गोविन्द का मुँह उतर गया है। मैं क्या उसके हृदय को कष्ट पहुँचाना चाहती थी ? यह बड़ी-बड़ी डींग मारता है, इसीलिये तो मेरा उसका झगड़ा हो जाता है। जरा-सा लड़का और बातें करता है बूढ़ों जैसी। बस, यही तो सहा नहीं जाता। लेकिन यह भी तो नहीं हो सकता कि उससे बोला ही न जाय। पिछले छः महीनों का परिचय ही ऐसा प्रतीत होने लगा है मानो हम दोनों जन्म के साथी हों, ऐसी दशा में उसके हृदय को चोट पहुँचाना बुद्धिमानी नहीं। यह सोचकर अनुसुइया दूसरी जामुन मुँह में डाल कर बोली—वाह, जामुन तो बड़ी मीठी हैं। कल ढेर-सी लाओ तो समझूँ।

—इसमें समझने की क्या बात है ? कहो तो अभी मँगा दूँ।

यह बारह वर्ष का लड़का उस दस वर्ष की लड़की की आज्ञा पालन के लिये ठीक दोपहरी में जामुन लाने चल दिया। मानों

यह उसका आवश्यक कर्त्तव्य हो। उधर अनुसुइया इसकी प्रतीक्षा में खिड़की में पैर लटका कर बैठ गई।

क्या यह भी कोई संसार था, कोई सृष्टि थी?

— ३ —

तीन सौ पैंसठ दिन लम्बे पूरे बारह वर्षों को जोड़ने पर एक युग बनता है और ऊपर की घटना को हुए लगभग ऐसे-ऐसे दो युग बीत चुके थे। उस समय के बूढ़े चल बसे थे, युवक अधेड़ हो गये थे और बालक युवक बन गये थे।

सेठ परिवार बहुत दूर-दूर के अनेक तीर्थों की यात्रा करता हुआ पुण्य भूमि हृषिकेश पहुँचा। सारी बस्ती में धूम मच गई। पंडों की हथेलियाँ खुजलाने लगीं, साधु-सन्तों के तूम्बे और कमण्डल साफ होने लगे। मन्दिरों में मूर्तियों के विशेष शृङ्गार पर ध्यान दिया जाने लगा। घटवालियों की आंखें सड़क की ओर चिपक गईं, न जाने कितना दान किया जायगा।

सेठजी के लम्बे-चौड़े लश्कर के लिये ठहरने का प्रबन्ध बड़ी बड़ी कठिनाइयां उठाने के बाद हुआ। उन लोगों को कोई कष्ट न हो, इसका ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक था। अनेक धर्म-शाला देखने के बाद कहीं सेठजी के मंझले पुत्र ब्रजलाल को एक स्थान पसन्द आया। वहीं डेरा डाल दिया गया।

बीसियों नौकरों और बड़े भारी परिवार के भोजन में ही शाम हो गई। इस समय मन्दिर से निकली भक्त जनों के कीर्तन की मधुर ध्वनि मे अमृत वर्षा-सी हो रही थी, जो हृदय और कानों मे शान्ति का सञ्चार कर रही थी।

अगले दिन प्रातः काल ही सेठजी के इस काफले को बदरी-नारायण के लिये प्रस्थान करना था, इसलिये बड़ी सेठानीजी ने—अनसूया की सास ने—यह आवश्यक समझा कि मन्दिरों के दर्शन का काम अभी समाप्त कर लेना चाहिये। सब बहू-बेटियों को जल्दी तैयार होने की आज्ञा देकर सेठानीजी ने पांच-सौ की थैली देवता की भेट चढ़ाने के लिये अपने पास रख ली।

अभी आरती होने में कुछ विलम्ब था। थोड़ा दिन रहते ही इन लोगों ने मन्दिर में प्रवेश किया। सेठानीजी मन्दिर की कारीगरी को देखती जाती थीं और आश्चर्य सागर में गोते लगाती जाती थीं। उधर सेठजी राधाकृष्ण की मूर्ति के सामने पहुँचे तो दर्शन कर ऐसे मुग्ध हुए कि आँख मूंदे न जाने कब तक खड़े रहे। उधर अनसूया मन्दिर के स्वामी श्री सुदर्शन ब्रह्मचारी की ओर अत्यन्त ध्यान पूर्वक देख रही थी। स्वामीजी को देख कर उसके असमंजस का कोई ठिकाना न था। उसे रह-रह कर यही ख्याल हो रहा था, कि अब से बहुत दिन पहले ठीक ऐसी ही या यही आकृति कहीं देखी है। थोड़ी देर बाद उसे याद हो आया, अब से दो वर्ष पहले इन्हीं ब्रह्मचारीजी को कलकत्ते में हुगली के किनारे और कभी-कभी अपने मकान के पास भी देखा है। तब इनका स्वास्थ्य अच्छा था। इस बार अनसूया ने अपना घूंघट उठा ब्रह्मचारी की ओर और भी ध्यान से देखा। उधर यह देख कर ब्रह्मचारीजी के होठों पर एक मन्द मुसकान-सी दौड़ गई। यह क्या गोविन्द है ? नहीं, शायद भ्रम हो रहा है। इसके बाद उसने न जाने क्या सोच कर अपने पुत्र-पुत्रियों को

ब्रह्मचारीजी के पैर छूने का आदेश दिया, पर ब्रह्मचारीजी बिलकुल शान्त थे, मानों वे अपने अन्तर देश के किसी अशान्त प्रान्त को सहला रहे हों। अथवा अपनी शान्त और संयमी मनोवृत्ति में अचानक ज्वर आ जाने से, उसे फिर साधना की ओर खींचने का प्रयत्न कर रहे हों। यह देख कर अनुसूया के ससुर और सास ने भी ब्रह्मचारीजी के पैर छूने को हाथ बढ़ाया, पर उन्होंने पैर पीछे हटा कर कहा—आप दोनों मेरे माता-पिता के तुल्य हैं। बहुओं को चरण छूने का इशारा किया गया, बेटियाँ भी आगे बढ़ीं। उधर अनसूया ने ब्रह्मचारीजी के बार-बार मना करने पर भी उनके चरण छू ही लिये।

सब लोग मन्दिर से बाहर आये तो सेठजी ने कहा—यह बड़ा कठिन कार्य है। ऐसे संयमी पुरुष देवता के समान होते हैं। अभी इनकी उम्र ही क्या है? बहुत होंगे, ब्रज के बराबर होंगे। सेठानीजी ने फिर एक बार मन्दिर की ओर मुंह कर और हाथ जोड़ कर अपनी श्रद्धा का परिचय दिया। ब्रजलाल ने पिता की बातों पर हँस कर अपने छोटे भाई से कहा—कोई पूरा पाखण्डी है। ये लोग ऐसा रूप न बनाएं तो पैसे कैसे बसूल हों।

यह सुन कर अनुसूया पति की ओर तीव्र दृष्टि से देखती हुई आगे बढ़ गई। उसकी छोटी ननद ने अनुसूया के कान में कहा—भाभी, देखो तो सही कैसा शरीर है और यह योग, इस छोटी-सी उम्र में। क्यों भाभी इन्होंने अपना विवाह नहीं किया, इसी से ब्रह्मचारी कहलाते हैं?

अनुसूया ने लापरवाही से उत्तर दिया—मुझे क्या पता?

—लेकिन भाभी, वे तुम्हारी ओर कितने ध्यान से देख रहे थे, मानों तुम्हें पहले कहीं देखा है।

अनुसूया ने बातों का क्रम बदलते हुए कहा—जल्दी-जल्दी घर चलो, सारा सामान संगवाने को पड़ा है।

जब बिलकुल शाम हो गई, दिये जल गये, तो अनुसूया की सास अपनी बहू-बेटियों के साथ गङ्गाजी की आरती करने के लिये घाट पर पहुँचीं। वे अपनी आरती के ध्यान में थीं कि बच्चे न जाने कहाँ चले गये, बहुत पुकारने पर भी उनका पता न चला। परन्तु ढूंढ़ते हुए थोड़ी दूर पर देखा गया कि सब बालक घाट पर बैठे हुए कागज और पत्तों की बनी हुई नावों में दिये जला-जला कर गङ्गा में बहा रहे हैं। ब्रह्मचारीजी नाव बना-कर दे रहे हैं और उनका शिष्य उनमें दिये रख रहा है। सब से अधिक जोर जमा रहे हैं, गायत्री और विजय। इन्हें शायद ब्रह्मचारीजी ने अधिक मुंह लगा लिया है। विजय कहता है, मैं यह छोटी-सी नाव नहीं लूंगा।

गायत्री कहती है, पहले मुझे दो मैं इससे छोटी जो हूँ।

उधर सेठानीजी आरती करने लगीं तो अनुसूया बच्चों की ओर बढ़ी। पास पहुँची तो ब्रह्मचारीजी के नेत्रों से उसके नेत्र जा मिले। अनुसूया बोली—कौन गोविन्द है ?

—हाँ अनू।

—तुमने यह क्या कर डाला ?

—इसी से तो उसे पा सका हूँ जिसकी कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था।

इसी समय आवाज आई—मंझली बहू !

अनुसूया बच्चों को वहीं छोड़ कर लौट पड़ी।

अगले दिन प्रातः काल सूर्य निकलने से पहले ही कुलियों के निर्धन हाथों और बलिष्ठ कन्धों पर सेठजी का सामान लदने लगा। स्त्रियाँ भी चलने को उद्यत हुईं। पीछे-पीछे कितनी ही डांडियाँ और बच्चों की कंडियाँ लेकर कुली चलने लगे।

इस समय ब्रह्मचारीजी की कुटिया से वीणा का मधुर स्वर निकल रहा था। वे गा रहे थे अत्यन्त तन्मय भाव, सुन्दर आलाप और बँधी हुई लय से। उनका स्वर साफ सुनाई दे रहा था—

संसार है सब माया
निस्सार है यह छाया

सब आगे बढ़े जा रहे थे मानों किसी अनन्त पथ की ओर चले जा रहे हों। अनुसूया ने जाते-जाते एक बार ब्रह्मचारीजी की कुटी की ओर कुछ देर देखा और फिर धीरे से अपने आँचल के छोर से नेत्र पोंछ डाले। बीते दिनों की बहुत सी बातें उसे याद हो आईं—एक स्वप्न के समान, एक छाया के समान। ठीक है वे दिन भी तो छाया के समान ही अदृश्य हो गये हैं, ये दिन भी माया की तरह अदृश्य हो जायँगे। इतने बड़े संसार में किसी एक जीवन का अस्तित्व ही क्या ? पानी के बुलबुले और कागज की नौका के सदृश ही तो, बस।

———

क्रिसमस कार्ड या नालिश

अनेक आशाओं और अभिलाषाओं के साथ लताने श्वसुर-गृह में प्रवेश किया। उसके पिता साधारण स्थिति के थे। किशोरियों की बहुत-सी आकांक्षाएँ श्वसुर-गृह के लिये सहेजकर रक्खी जाती हैं। लता के हृदय में भी बहुत से सम्भव-असम्भव अरमान ताक-झाँक कर रहे थे। प्रथम-मिलन से लेकर गृहस्वामिनी होने तक की कल्पना को विचारों की लड़ियों में उसने ऐसे सुन्दर ढङ्ग से पिरो रक्खा था, जैसे रेशम की डोरी में बड़े-बड़े मोती पिरोये जाते हैं। प्रथम-मिलन के समय वह लज्जावनत होकर कैसे बैठी रहूँगी, वे आयेंगे, उसको स्पर्श करेंगे, हिलायें-डुलायेंगे, लेकिन मैं बोलने का नाम न लूँगी। जब वे बहुत मिन्नत कर चुकेंगे, तो कुछ नरम हो जाऊँगी और शुरू में ही उनसे झगड़ा करना भी तो अच्छा न होगा। ऐसी कोई चेष्टा न करूँगी, जिससे उनके मन में दुःख हो और मेरी ओर से उनका मन फिर जाय। परन्तु रूप! वह वैसा रूप कहाँ से लायेगी? मैं बहुत सुन्दरी नहीं हूँ, तो ऐसी कुरूपा भी नहीं हूँ। घर के लोग तो उसके नक्श-निखार को हजारों में एक बताते हैं, पर रंग तो साँवला ही है। न जाने कितने साबुन, उबटन, पोमेड और क्रीम लगा चुकी, पर निगोड़े रंग में तनिक भी फर्क नहीं पड़ा। हाथ

पैरों को धोते-धोते छील डालती हूँ, लेकिन सफेदी नहीं आती। लता ने सुना था कि रमेश बहुत सुन्दर और धनी पिता के इकलौते पुत्र हैं। एक छोटी बहन है। पढ़ने-लिखने में कभी पीछे नहीं रहते। बड़े सुशील और मिलनसार हैं। तो क्या रंग की थोड़ी-सी श्यामता पर मेरा आदर नहीं करेंगे? अपने मित्रों को वे बहुत प्यार करते हैं, प्रोफेसर उनकी बुद्धि की प्रशंसा किया करते हैं। क्या उनके मित्रों में कोई साँवले रंग का न होगा? सभी प्रोफेसर गोरे रंग के होंगे? इसी तरह लता के मन में अनेक तरह के भाव आते-जाते रहते थे। उसने अनेक बार अपने साथ रमेश की तुलना की थी, पर रंग के सिवा अपने में उसको कोई कमी न दीखती थी। वह अँगरेजी सातवें दर्जे तक पढ़ी थी। सीने-पिरोने में एक ही थी। पिता वकील थे, पूरी गृहस्थी उसके जिम्मे थी। छः लड़के-लड़की थे। लता सबसे बड़ी थी, इसलिये माता के प्रत्येक कार्य में उसको सहायता देनी पड़ती थी। घर के छोटे-मोटे ऐसे बहुत से काम थे, जिन्हें लता बिना कहे ही कर लेती थी। रसोई बनाने में तो ऐसी कुशल थी कि क्या कहना! वकील साहब उसकी बनाई सब्जी बड़े चाव से खाते थे। छोटे बहन-भाई भी किसी वस्तु के लिये हठ करते तो अपनी लता बीबी से ही करते थे। माँ लता के विवाह के नाम से डरती थी, क्योंकि घर का अधिकांश काम उसी के जिम्मे था। लता के चले जाने से सारा काम उसी के जिम्मे आ पड़ेगा।

जब लता ससुराल जाने लगी तो अम्मा ने कहा— देख बेटी, बड़ों की आज्ञा में रहना। सास को मेरी जगह और ससुर को

अपने बाबूजी की जगह समझना। रमेश को सदा प्रसन्न रखने की चेष्टा करना और कभी किसी काम के लिये हठ न करना। उसकी पढ़ाई का भी ध्यान रखना जिससे वह फेल न होजाय।'

लता ने आश्चर्य से माँ की ओर देख कर सदा के लिये इन बातों की अपने अञ्चल के छोर में गिरह लगा ली। आत्मबल ही तो अबलाओं की एकमात्र शक्ति होती है

(ः)

लता ससुराल पहुँची तो जितने मुँह उतनी बातें होने लगीं। किसी ने कहा—समधी ने दिया खूब है, दूसरी ने कहा। ऐसा क्या दे दिया, जिसे तुम इतना समझ रही हो'। कोई-कोई तो ऐसा देते हैं कि बस क्या कहना। तीसरी ने कहा—कुछ भी हो, बहू समझदार है। पहली बोली—आँखें क्या दो बड़े-बड़े हीरे हैं। नाक भी पतली और सुन्दर है। चौथी ने कहा—रंग जरा और साफ होता तो लाखों में एक थी।

कोई-कोई रूपगर्विता रमेशचन्द्र को छेड़ने से भी बाज न आईं। एक ने तनिक मुस्करा कर पूछा—'क्यों लाला, बहू तो पसन्द है न ?'

इस प्रश्न का संतोषजनक उत्तर न पा वह अपना सा मुँह लेकर रह गई एक प्रौढ़ा ने रमेश की माँ से पूछा—'क्यों जी क्या लड़के ने खुद पसन्द करके ब्याह किया है ? रंग हल्का तो जरूर है, पर छवि बड़ी सुन्दर है'

लता की सास ने खिज कर कहा-'वह मेरे सामने देखने वाला कौन है ? जेठानी जी, मेरी बहू लाखों में एक है और हम

लोगों में कोई हूर भी नहीं दिखाई देती। बहू-बेटी का नख-शिख अच्छा और माँग की पूरी को यही बहुत है। यह तो ऐसी साँवली भी नहीं है।

चारों ओर से इसी बात का समर्थन होने लगा।

(३)

रमेश बहुत बड़े घराने के इकलौते पुत्र थे। उनके पिता के कई कारखाने कानपुर में चल रहे थे, जिनमें काफी लाभ की आशा थी। ज़मीन-जायदाद भी कम न थी। घर में दास-दासियाँ मोटर, घोड़ागाड़ी, कोठी-बङ्गला इत्यादि सभी कुछ था। रहने का बङ्गला भी बड़ी शान से सजाया हुआ था. इसकी ओर सरसैया घाट जाने वालों की दृष्टि अनायास ही खिंच जाती थी। गरमी के दिनों में तो उधर से जाने वाले प्रत्येक बटोही का मन क्षण भर के लिए उस भवन के ठण्डे बरामदे में आराम करने को ललचा उठता था। रमेश के पिता लाला गङ्गाप्रसाद जी की धर्म की ओर अधिक रुचि थी। जगह-जगह उनके नाम से प्याऊ बैठा रहती थी। एक सदावत भी खुला था। एक-दो मन्दिर और धर्मशाला भी बनवा चुके थे मतलब यह कि साधारण लोगों से लालाजी बहुत ऊँची स्थिति के थे। लता के पिता फतहपुर के नामी वकीलों में थे, पर बड़े भक्त और सहनशील। उनके एक मित्र ने लता का ऊँचे घराने में सम्बन्ध कराकर उन्हें जीवन भर के लिए खरीद लिया था।

बड़े घर का पुत्र होते हुए भी रमेश अभिमानी न था। परन्तु उसके मन में भी असीम आकांक्षाएँ थीं। उसने अपनी भार्या

पत्नी के विषय में कुछ धारणा बना रक्खी थी। उसकी कल्पना की उड़ान मिस तारा और रतन तक पहुँची हुई थी। लता शिक्षित तो थी, पर अधूरी और रङ्ग भी सराहने योग्य न था। थोड़ा और सफेद होता तो अच्छा होता। यद्यपि रमेश भी कुछ लजीली प्रकृति का था, परन्तु लता की अत्यन्त लज्जा उसे अच्छी न लगती थी। वह ऐसी स्त्री चाहता था, जो पीछे से आकर आँखें मूंद लेने वाली हो। उसकी कोई चीज़ ऐसी जगह छिपाकर रख दे, जो लाख सिर पटकने पर भी न मिले। वह चाहता था, जब मैं कालिज से आऊँ तो दो बड़े-बड़े नेत्र झरोखे में प्रतीक्षा करते मिलें। शाम को टेनिस खेलने जाऊँ तो जल्दी वापस लौटने की प्रतिज्ञा करनी पड़े। इस तरह की अनेक बातें उसके हृदय को रङ्गीन बनाए हुए थीं। परन्तु उसने यह कभी नहीं सोचा था कि भारतीय सभ्यता के प्रेमी एक हिन्दू घराने में ऐसी लड़की पाई भी जा सकती है या नहीं। लता स्वाभाविक लज्जा के आवरण में लिपटी हुई साधारण बालिका थी। उसके लिये सास और पति दोनों का सहयोग आवश्यक था। यद्यपि घर में कोई भारी काम न थे, पर जो भी थोड़े-बहुत थे, उन्हें भी अपनी सास को न करने देना चाहती थी। लता को माँ से ऐसी ही शिक्षा मिली थी। जब कभी लता के हृदय में पति-प्रेम की प्यास लगती, तो उसे झट अपनी माँ के 'उसका एम० ए० का साल है, पढ़ाई में हर्ज न हो' ये शब्द याद आ जाते थे। सास ने भी एक दो बार इसी ओर इशारा किया था। लता ऐसी मूर्ख तो थी नहीं कि अपने लाभ को बात न समझती। उसने इन

दिनों की घोर तपस्या काल समझकर सन्तोष कर लिया।

एक दिन सास कहीं गई हुई थीं, महरी भी उनके साथ ही थी। इसी समय लता की ननद ने आकर कहा—"भाभी, महरी कहाँ गई है ? भैय्या ने पानी माँगा था।'

'और तुमने मुझ से कहा भी नहीं जीजी ?' कहकर लता स्वयं पानी का गिलास लेकर चली। परन्तु कुमुद ने बीच में ही रोककर कहा—'लाओ, मैं दे आऊँ।'

कुमुद की अवस्था करीब बारह वर्ष की थी। लता उसको डाट न सकी। उसके हृदय पर कुछ चोट-सी लगी। ननद के हाथ में गिलास दे वह कुछ देर सोचती रही फिर पति के कमरे की ओर चली।

रमेश टेनिस में जाने को तैयार था। उसने बहन से कहा—'रहने दो, अब प्यास नहीं रही' और एक बार किवाड़ की ओट में खड़ी हुई लता की ओर देख कुछ गुनगुनाता हुआ टाई बाँधने लगा। एक बार रमेश ने सोचा—यह कैसी अपराधियों की तरह मेरी ओर देख रही है ? लाओ, बुला ही लूँ। पर कुमुद ? रमेश ने फौरन कुमुद से एक बीड़ा पान लाने के लिये कहा। कुमुद ने लता की ओर इशारा किया। वह पान लेने चली गई। रमेश ने एक बार तीव्र नेत्रों से बहन की ओर देखा और बल्ला ले, बिना कुछ कहे ही चला गया। लता पान लेकर आई तो वहाँ कोई न था। उसकी समझ में न आया कि वे चले क्यों गये।

(४)

उस दिन रमेश का मन खेल में नहीं लगा। उसके हृदय के

कोमल भाव झनझना उठे थे। उसके विचारों का केन्द्र आज लता ही थी। वह कैसी अन्यमनस्क दीख रही थी। प्रति दिन रात्रि का अधिकांश भाग पढ़ने में बिताकर जब रमेश सोने जाता, तो लता उसको सिकुड़ी हुई चारपाई पर पड़ी नजर आती। पता नहीं, वह उस वक्त सोती रहती थी या वैसे ही पड़ी रहती थी। रमेश ने भी इसका कभी निर्णय न किया था। कभी-कभी लता सास के पैताने पड़ी-पड़ी सो जाती। सास जब उसे जगाकर भेजती, तो रमेश जगते हुए भी मुँह लपेट कर सोने का बहाना कर लेता। उसे जगाने का लता को साहस न होता। सोचती। तमाम दिन तो पढ़ने में बीत जाता है, अब जगाकर कष्ट देना ठीक नहीं। दोनों ही अपने-अपने विचारों में लीन रहते थे। लता को रमेश की पढ़ाई की विशेष चिन्ता थी। फेल हो गये, तो इष्ट-मित्रों में दोनों की हँसी होगी। उस दिन रमेश ने लता से बात करने का पक्का निश्चय कर लिया। रात को जब वह सोने गया, तो लता हमेशा की तरह सिकुड़ी पड़ी थी। रमेश ने धीरे से उसकी दुलाई उठा कर कहा—'क्या अभी से सो गई हो लता?'

लता पर मानो सुहाग बरस पड़ा। वह चौंक कर उठ बैठी। इससे पहले रमेश ने कभी उसे इतने प्रेम से न पुकारा था। लता का शरीर पसीने-पसीने हो गया। सोचने लगी—क्या उत्तर दूँ? यह तो रोज की ही बात है। न जाने कितनी रातें जगकर बिता चुकी हूँ। न इन्हें अवकाश होता है, न मुझ में साहस है। इसी बीच रमेश ने खीझकर कहा—'जवाब ही नदारद है। क्या अब भी नींद में हो?'

लता की विचार धारा चोट खाई हुई सर्पिणी की भाँति ऐंठ कर रह गई। यह तो बड़ी कर्कश ध्वनि है। वह तुरन्त सम्हल कर बोली—'अभी तो जाग ही रही थी।'

रमेश ने कुछ व्यंग्य से कहा—'तो क्या रोज़ इसी तरह जागती रहती हो।'

लता इसका क्या उत्तर दे? उसने स्वप्न में भी न सोचा था कि कभी इस तरह भी सफाई देनी पड़ेगी। रमेश ने फिर कहा—'लता, मैं तुम से एक बात पूछना चाहता हूँ। मैं जानता हूँ, कि तुम्हारा ज्ञान अत्यन्त परिमित है, परन्तु अच्छा-बुरा सोचने की बुद्धि तो सभी में होती है। तुम न जाने क्यों, मुझसे हमेशा दूर-दूर रहती हो। हो सकता है कि तुम इस घर और यहाँ के मनुष्यों से सन्तुष्ट न हो, पर अब तो इसका कोई उपाय नहीं हो सकता। जो कुछ है, उसी में सन्तोष करना होगा।'

लता विस्मय विस्फारित नेत्रों से पति की ओर देखने लगी। यह कैसा प्रेम सम्भाषण है? उसने चाहा, पति के सामने हृदय खोल कर रख दूँ, पर इसी समय रमेश ने फिर कहना शुरू किया—

'तुम्हें क्या पता कि मेरे सारे अरमानों का खून हो रहा है। मनुष्य अपने को पुस्तकों में कब तक भुलाये रह सकता है? पर तुम्हें इसकी चिन्ता ही क्या है?'

लता की इच्छा हुई कि पति के मुँह पर हाथ रख कर उन्हें चुप करूँ। क्या जिस तरह ये अपने अरमानों का जिक्र कर

रहे हैं, मैं नहीं कर सकती ? पर मेरे अरमान ही क्या हैं ? उनका मूल्य ही क्या है ? सहसा उसे अपने बचपन के संचित विचारों का ध्यान हो आया। लता का हृदय रो उठा, उसके बड़े-बड़े नेत्रों से आँसू टपकने लगे। रमेश ने यह देख कर कहा—'बस, रोना शुरू कर दिया ! अच्छा भई, मुझसे कोई गलती हुई हो तो माफ करना।'

रमेश उठना ही चाहता था कि बालिका ने हाथ पकड़ कर बैठाते हुए कहा—'तुम ऐसी बातें क्यों करते हो ? मुझे इससे बहुत दुःख होता है।'

इससे आगे उससे कुछ नहीं कहा गया। सिसकियों से उसका गला रुँध गया था। रमेश न तो उसका हाथ ही झटक सका और न वहाँ से उठ ही सका। इसी बीच लता का सिर न जाने कब रमेश की गोद में पहुँच गया था।

(५)

परीक्षा फल प्रकाशित हो चुका था। रमेशचन्द्र विश्वविद्यालय भर में प्रथम आया था। मित्रों ने बधाई दी और प्रोफेसरों तथा गुरुजनों ने आशीर्वाद। कई सप्ताह तक दावतों की धूम मची रही। माता को अपनी कोख पर गर्व था और लता को अपने सौभाग्य पर। दावत का सारा सामान लता ने अपने हाथ से बनाया था। खुरमा, मोहन भोग, रसगुल्ले, समोसे, मलाई की कुल्फियें आदि उसकी निपुणता का परिचय दे रहे थे। हृदय का रस और मन का उत्साह जिन कामों में साथ मिल जाता है, वे लोकोत्तर हो ही जाते हैं।

लता रात को सोने के लिए अपने कमरे में पहुँची तो दस बज चुके थे। रमेश को अभी तक मित्र घेरे बैठे थे। किसी का ध्यान रात्रि की गम्भीरता की ओर न था। सब अपनी बातों में उलझ रहे थे। कोई रमेश को विलायत की सैर करने की सलाह देता तो कोई आई० सी० एस० होने की। कोई उस अवस्था में रमेश का खानसामा बनने को तैयार था और कोई बेहरा। रमेश ने कहा—'मेरा इरादा तो कहीं जाने का नहीं, मैं ऐसे ही अच्छा हूँ।'

एक मित्र बोला—'तुम बड़े मूर्ख हो जो ऐसा अवसर छोड़ रहे हो। भगवान अवसर भी ऐसे को ही देता है, जो उसकी हत्या करता है।'

इसी समय रमेश की दृष्टि अचानक घड़ी पर जा पहुँची बोला—'अरे साढ़े दस बज गये।'

मित्र बिदा हुए और रमेश ऊपर पहुँचा। देखा, दिन भर की थकी हुई लता पड़ी सो रही है। ग्यारह बजने वाले थे। रमेश को उस पर दया आई, वह उसको जगाये बिना ही अपने बिस्तरे पर जाकर लेट गया।

अगले दिन रमेश की आँख बहुत देर बाद खुली। सामने दृष्टि जाते ही देखा लता शृङ्गार मेज के सामने खड़ी भीजे बालों को सँवार रही है। माथे पर बड़ी सी गुलाल की बेंदी उसके लावण्य को उभार रही थी, कैलिको मिल की चौड़ी पाड़ की बारीक साड़ी खूब फब रही थी। बनारसी पोत का बना जम्पर अपनी बहार अलग ही दिखा रहा था। हाथ में दो-दो काँच की

चूड़ियों के साथ जड़ाऊ कंगन कंधे के साथ-साथ क्रीड़ा कर रहे थे। पैरों में पहनी हुई सलमे की चप्पल किसी बड़े घर की बहू होने की सूचना दे रही थी। उसके भींजे बालों से अभी तक पानी टपक रहा था। रमेश मुग्ध दृष्टि से यौवन भार से लदी हुई लता का सौन्दर्य बहुत देर तक देखता रहा। फिर लेटे ही लेटे पुकारा—'लता !'

लता ने सिर ढाँकने का उपक्रम करते हुये कहा—'आप जग गये ?'

'अभी सर न ढांको, पानी टपक रहा है। यहाँ आओ, तुम्हें एक खुश खबरी सुनाऊँ।'

रमेश उठ कर बिस्तर पर बैठ गया। लता भी उसके पायताने की ओर, जरा-सा बिस्तरा उलट कर बैठ गई। रमेश को यह बात न भाई। बोला—'तुम्हें इतना ज्ञान कब से हो गया लता, क्या मेरे बिस्तर मे भी कोई छूत घुसी हुई है ? और आज तो तुम बड़ी जल्दी नहा ली हो! अम्मा के साथ गङ्गा नहाने क्यों नहीं गई ?'

एक साथ इतने प्रश्नों का उत्तर देने की क्षमता अब लता में आ गई थी। बोली— मैं तो कोई नया ज्ञान अपने में पाती नहीं। अम्मा धुली धोती से ही चौके में जाने देती हैं। आज मुझे सिर धोना था, इसलिये गङ्गा नहाने नहीं गई। और इधर कई दिन से तो मैं वैसे भी नहीं गई हूँ।'

यह कहते ही लता कुछ लजा-सी गई। आज रमेश के हृदय की कली खिली हुई थी। लता का यह लज्जित भाव आज उसे

बुरा न लगा। लज्जित होते समय लता का सिर कुछ नीचे झुक गया था, इससे खिड़की से आई हुई सूर्य की किरणें उसके मुंह पर जा पड़ीं। इन किरणों के पड़ने से लता का मुख-मण्डल और भी चमक उठा। रमेश ने मन ही मन कहा—'कौन कहता है, लता सॉवले रंग की है? क्या इससे गोरा रंग कुछ महत्व रखता है?' फिर थोड़ा मुस्करा कर प्रकट रूप से कहा—'कई दिन से तुम्हारे गङ्गाजी न जाने का कारण अब समझ में आ गया है। अच्छा लता, सम्भवतः आई० सी० एस० में पढ़ने के लिये मुझे विलायत जाना पड़ेगा। उसके बाद कुछ और भी सीखने का विचार है। वे लोग तो हमसे बहुत कुछ ले जाते हैं और हम यों ही रह जाते हैं, यदि मुझे स्कालरशिप न भी मिला, जिसकी आशा तो नहीं है, तब भी मैं अपने रुपये से ज्ञान प्राप्त करने अवश्य जाऊँगा। इसमें तुम्हारी क्या सम्मति है?'

रमेश ने लता का हाथ अपने हाथ में ले लिया। पति के विदेश जाने की बात ने लता के हृदय को मसल डाला। सहसा उसके हृदय में विचार उठा कि इससे तो ये फेल ही हो जाते, तो अच्छा था। फिर सोचा, हिन्दू रमणी होकर पति का अनिष्ट सोच रही है? तुरन्त सावधान होकर बोली—'दिन बहुत लगेंगे। मैं इतने दिन तक कैसे रह सकूँगी?'

रमेश कुछ गम्भीर होकर बोला—'इसी समय कौन तुम हर वक्त मेरे पास बैठी रहती हो? और कुछ नहीं तो पढ़ने-लिखने में समय बिताना। मैं जन्म भर के लिये तो जा ही नहीं रहा हूँ।'

यह सुन कर लता का हृदय टुकड़े-टुकड़े हो गया। ये मेरी

बात का सदा उलटा ही अर्थ लगाया करते हैं या मैं ही अपने भाव ठीक तरह से व्यक्त नहीं कर पाती। फिर—'जैसे आप कहेंगे वैसे ही करूंगी।' कहती हुई लता चली गई। रमेश ने सोचा मालूम होता है, लता मुझसे दूर ही दूर होती चली जा रही है। न इसने मुझे समझा और न मैं ही इसको समझ सका। मैं अपने मित्रों को तो खूब प्रसन्न कर लेता हूँ, पर लता को क्यों नहीं कर पाता ?

एक दिन शुभ मुहुर्त देख कर रमेश विदेश के लिए चल पड़ा। चलते समय लता ने नेत्रों में आँसू भर कर कहा—'मुझे भूल तो न जाओगे ?'

रमेश ने उसके बांयें कोमल कपोल पर दांयें हाथ की हलकी सी चपत लगाते हुए कहा—'क्या तुम बावली हो गई हो ?'

लता ने मन ही मन कहा, हे परमात्मा इन्हें कुशल पूर्वक वापस लाना। उसके नेत्रों से आँसू की दो बूंदें निकल कर धूल में मिल गई।

बम्बई तक रमेश के पिता पहुँचाने गये। बिदा होते समय बोले—'बेटा अपनी जिद से जा रहे हो, मैं ऐसा जानता तो अभी तुम्हारा विवाह ही नहीं करता। खैर, अच्छी तरह से रहना और जब खर्च की जरूरत हो, मँगा लेना।

बिदा के समय पिता-पुत्र दोनों के गले रुंध रहे थे। जहाज ने सीटी दी, दोनों का ध्यान भंग हुआ।

पुत्र ने पिता के पैर छुए, पिता आशीर्वाद देकर नीचे उतर आए। जहाज जब तक दीखता रहा सेठ जी वहीं खड़े रहे।

उधर रमेश भी अपना रूमाल हिला कर पिता जी को सान्त्वना देता रहा। जब दृष्टि विवश हो होगई तो दो बूँद आँसू मातृ-भूमि के नाम पर उसकी आँख से निकल पड़े। इस समय लता की स्मृति भी उसको बेचैन कर रही थी।

घर पर लता और उसकी सास कटे हुए वृक्ष की तरह जमीन पर पड़ी हुई थीं। आज उनका सर्वस्व, उनसे बहुत दूर, विदेश के लिये प्रस्थान कर चुका था। वियोग की व्यथा वे ही समझते हैं; जिन्हें कभी उसका सामना करना पड़ा हो।

(६)

रमेश को विदेशगये एक-दो नहीं, पूरे पाँच वर्ष होगये। लता सूख कर काँटा होगई थी और सास को कम दीखने लगा था। दो वर्ष से रमेश के पत्र भी बन्द थे। इतनी दूर की बात का ठीक पता लगानाभी कठिन था। लोग अनेक तरह की बात उड़ाते। कोई कहता, उसने एक धनवान मिस से विवाह कर लिया है. कोई उसके ईसाई हो जाने की बात भी कहते। ऐसी बात सुन कर माता-पिता अपने भाग को कोसते और लता खून का घूंट पीकर रह जाती।

आरम्भ के दो वर्षों में लता ने परिश्रम से, मैट्रिक की परीक्षा द्वितीय श्रेणी में पास करली थी। सास-ससुर के विरोध करने पर भी वह मानी नहीं। उधर लता की माँ अपनी बेटी के दुःख से घुल-घुल कर स्वर्ग सिधार गईं। एक भाई का विवाह होगया था। पिता कभी-कभी आकर देख जाते थे। वे लता को जब फतेहपुर चलने के लिये कहते, तो लता उत्तर देती—'मैं इन लोगों

को छोड़ कर कैसे चली जाऊं । मेरे बिना इनके मुंह में दो-बूंद पानी डालने वाला भी कोई नहीं । बराबर की ननद विवाह के लिये बैठी है ।"

तीज त्यौहार सूने से पड़े रहते । कभी सास कहती भी तो लता उत्तर देती—'क्या होगा अम्मां, अब तुम कुमुद का विवाह करलो, फिर सब कुछ हुआ करेगा ।'

पर इससे सास को संतोष न होता । आशा का सूत्र बहुत बड़ा होता है । क्या संसार में कोई विदेश जाता नहीं है ? सास कहती—'तू मेरे लड़के का शुभ नहीं मनाती, कुलच्छन करती है । जा, सिर धोकर माँग भरले । घबरा नहीं, एक दिन वह जरूर आयगा । मैं तो कुमुद का विवाह तभी करूंगी जब रमेश आ जायगा । देख तो, तेरी धोती कैसी मैली हो रही है, बाल उलझे पड़े हैं ।'

इसी तरह रोते-धोते तीन महीने और बीत गये । अब लता ने कुमुद के विवाह के लिये सास ससुर के कान खाने शुरू कर दिये । प्रति दिन यही जिक्र रहता । लड़का मिल गया था, पर रमेश के आने का इन्तजार हो रहा था । एक दिन लता ने खीजकर कहा —'तो आप कोई बहाना करके उन्हें बुलाती क्यों नहीं ? मैं तो संतोष कर चुकी हूँ. आज तक कभी यह नहीं सुना कि पास होने के बाद भी लोग वहीं पड़े रहते हैं '

सासने चिढ़ कर कहा—'तू भी औरों की तरह मेरे रमेश पर लांछन लगाती है ? वह बड़ा भला लड़का है ।'

एक दिन इन्हीं बातों का झगड़ा चल रहा था कि लता के

पिता आ पहुँचे। सब की सम्मति से यह तै हुआ कि वकील साहब अपनी ओर से रमेश को पत्र लिखें। उसमें उनके पिता के स्वर्गवास का हवाला देते हुए लिखा जाय, कि तुम्हारी सारी सम्पत्ति दूसरे के हाथों में चली जाने वाली है। घर की हालत बहुत खराब है। लता बीमार है, उसके बचने की आशा नहीं। बहन क्वारी बैठी है. माँ अन्धी हो गया है, आदि।

पत्र लिखने से एक मास बाद उत्तर आया, मैं पहली जून को बम्बई पहुँचूंगा। घर में फिर आनन्द के तार बजने लगे। माँ का रोना बन्द हुआ, पिता को धीरज बंधा। बहन आनन्द से फूल उठी। इस घर में लता ही ऐसी थी, जो रमेश को अपना मुँह नहीं दिखलाना चाहती। वह अपने पिता के घर चली जाना चाहती थी, पर सास ससुर भेजने को तैयार न थे और लता उनके मन को कष्ट देना उचित न समझती थी।

धीरे-धीरे रमेश के आने का दिन भी आगया। कमरों की सफाई होने लगी। कुरसी और सोफे करीने से सजाये जाने लगे। फुलबाड़ी की सिंचाई का काम लता की देख-रेख में होने लगा। लता अब पहले की सी लता न थी, उसने अब परदे को हाथ जोड़ लिये थे। घर के सब काम उसकी सलाह से होते थे। जरूरी हिसाब-किताब में ससुर का हाथ बटाती थी। कुछ लोगों की राय थी कि लता को बम्बई जाना चाहिए पर लता ने यह स्वीकार न किया।

पहली जून से पहला दिन इस घर के लिये विशेष स्थान रखता था। मानों उस दिन किसी के हृदयकाश में दूज का चाँद

उदय होने वाला हो।

पहली जून की शाम को रमेश का तार मिला। लिखा था, दूसरी तारीख को कानपुर पहुँच रहा हूँ।. यदि कोई घर पर हो तो सवारी स्टेशन भेज दी जाय।

अगले दिन लता खुद कार लेकर स्टेशन पहुँची। आज की उसकी वेश-भूषा भारतीय होते हुए भी अनोखी थी। माँग सेंदूर से भरी तो थी, पर टेढ़ी थी। माथे पर गुलाल की बूंद भी पाऊडर की सुगन्धि से क्रीड़ा कर रही थी। हाथों की चूड़ियों ने रिस्टवाच से बहनापा जोड़ा हुआ था। जम्पर की जगह विलायती कट का ब्लाउज शोभा पा रहा था और पैरों का लेडी शू उसे कुछ ऊँचा उठाये था। मतलब यह कि आज वह सारे अस्त्र-शस्त्रों से लैस होकर आई थी। गाड़ी आने में अभी १० मिनट की देर थी। लता ड्राइवर पर कार छोड़ कर प्लेटफार्म पर पहुँची। उसको एक-एक पल युगों सा बीत रहा था। मन बल्लियों उछल रहा था। इसी समय गाड़ी आने की घण्टी बजी। लता ने एक बार हृदय को बड़े जोर से दबाया। क्षण भर बाद इञ्जिन की धक धकाहट से उसका हृदय स्वर मिला कर चलने लगा। सर्चलाइट की तीव्र रोशनी उसकी आँखों में घुसी जाती थी, पर वह सामने से हटी नहीं। लोग आश्चर्य से उसकी ओर देख रहे थे। लता के कोमल कलेवर से निकली हुई लवेन्डर की खुशबू प्लेटफार्म के लोगों को तर कर रही थी। गाड़ी का प्रत्येक डिब्बा उसके सामने से होकर जा रहा था। भाँति-भाँति के चेहरे खिड़की में से सिर निकाले स्टेशन की बहार देख रहे थे। रमेश इनमें एक भी न था। उसका हृदय

बढने लगा। लता ने अपने नेत्रों को हथेली से मल कर फिर चारों ओर देखा। ट्रेन के पिछले हिस्से में कुछ कुली एक साहब का सामान उतार रहे थे। लता उसी ओर लपकी। यह क्या, इतना परिवर्तन? स्वास्थ्य कितना सुन्दर होगया। लता के नेत्र आप ही आप झपक गये। साहब ने कुछ गौर से उसकी ओर देखा। नहीं, यह नहीं हो सकती। वह मृत्यु शैया पर जीवन की अंतिम घड़ियाँ गिन रही होगी। यह तो कोई कालेज की लड़की जान पड़ती है। सहसा रमेश के हृदय में एक हलकी सी पीड़ा हुई, सोचा—आकृति तो वही है, पर कुछ दुबली और लम्बी प्रतीत होती है। फैशन भी बिलकुल आधुनिक है। मालूम होता है, अपने किसी मित्र को 'रिसीव' करने आई है। इसी समय कुलियों ने सामान उठाकर कहा—"चलिये साहब"

इससे रमेश और लता दोनों की विचार धारा में धक्का लगा। इस बार लता आगे बढ़ी और रमेश की ओर हाथ बढ़ा कर अभिवादन किया। यह अभिवादन भी पश्चात्य ढङ्ग का था। रमेश मानो आकाश से गिर पड़ा। इतना परिवर्तन! पूछा—'लता, अच्छी तो हो?'

'जी हाँ, कृपा है आपकी। आप तो अच्छी तरह रहे?'

रमेश झेंप सा गया। बड़ी बाचाल होगई जान पड़ती है। शायद कुछ शिक्षित भी अधिक हो गई है। फिर पूछा—'पिता जी बीमार थे क्या?'

'पहले घर चलिये, सब मालूम हो जायगा। बीमार तो मैं भी थी।' रमेश ठगा हुआ सा लता के पीछे पीछे-हो लिया।

सुखी देख कर माता-पिता भी प्रसन्न थे।

परन्तु विधाता की गति बड़ी विचित्र है। एक दिन रमेश हँसी-खुशी टेनिस खेलने गया। वहाँ से लौटा तो उसका मन ठिकाने न था। वह आते ही उदास भाव से सोफे पर लेट रहा। लता ने कमरे में प्रवेश करते हुए कहा—'आज क्या बात है, जो इतनी जल्दी आगये? अरे, कपड़े भी नहीं उतारे, यों ही लेट गये? तबीअत कैसी है?'

लता ने रमेश का माथा छूकर देखा, पसीने से तर था। युवती का धैर्य जाता रहा। मुँह की हँसी गायब हो गई। वह पति के सिर को गोद में लेकर आँचल से हवा करने लगी। यत्न और प्रेममयी स्नेह प्रतिमा के स्पर्श से रमेश कुछ स्वस्थ हुआ। रमेश ने बड़े स्नेह से लता का हाथ उठा कर अपने हृदय पर रख लिया। वह अभीतक जोरों से धड़क रहा था। लता ने पुनः स्नेह-सुधा ढलकाते हुए कहा—'क्यों क्या बात है? बताते क्यों नहीं?'

रमेश ने कुछ रुक कर कहा—'तुम मुझसे घृणा तो नहीं करती हो प्रिये?'

रमणी का हृदय पति के चरणों पर लोटने लगा। बोली—'यह तुम कैसी बातें करते हो प्रियतम! ठीक-ठीक बताओ, मेरी उद्विग्नता बढ़ती जा रही है।'

रमेश ने उठते हुए कहा—'मैं बड़ा पतित हूँ प्रिये, मुझे क्षमा करो।'

लता की समझ में कुछ न आया। इन्हें तो किसी नशे की

आदत नहीं है, फिर आज ये ऐसी बातें क्यों कर रहे हैं ? पति की वाणी से हिन्दू रमणी का हृदय पानी होकर नेत्रों की राह बहना चाहता था। पर रमेश को दुःख होगा, यह समझ कर कभी पहली बातों की याद न दिलाती थी। लता ने धैर्य देते हुए कहा—'ऐसी बातें न करो मेरे देवता, भारतीय ललना का सर्वस्व एक मात्र पति ही होता है। ऐसी दशा में वह उसकी दृष्टि में कभी अपराधी हो ही नहीं सकता। जो कुछ हो, साफ-साफ कहिये।'

रमेश ने साहस बटोरकर कहा—'मेरे नाम इंगलैण्ड से एक रजिस्टरी पत्र आया है। वह उसी मिस एल० एल० लीस का है, जिस ने मेरा सर्वनाश किया था। वह मेरे ऊपर दस हज़ार की नालिश करना चाहती है, अपने बच्चे के पालन-पोषण की आड़ में। इस तरह मेरा रहा सहा सुख भी धूल में मिला देना चाहती है। पिता जी सुनेंगे तो क्या कहेंगे ? मैं उन्हें अपना मुँह न दिखा सकूँगा।'

कहते हुए रमेश लता के आँचल में मुँह छिपा कर रोने लगा। युवती की समझ में सब बातें आ गईं। उसने क्षणभर चुप रह कर कहा—'कोई चिन्ता की बात नहीं, वह भी तो अपना ही बच्चा है। यदि वह उसके लालन-पालन के लिये कुछ रुपया माँगती है, तो हानि ही क्या है ? वह भारतीय माता तो है नहीं, जो परित्यक्ता होकर भी मेहनत-मजदूरी करते हुए पति की शुभ-चिन्तक बनी रहे। तुम चिन्ता न करो, मैं अपना हीरों का हार और कंगन बेच कर दस हजार रुपये दे दूँगी। पिताजी को पता भी न होगा।'

लता की बात सुन कर रमेश दंग रह गया। आज उसका पश्चात्ताप सीमा को पार कर गया था। सहसा उसने लता के पैर छूने के लिये हाथ बढ़ाया, परन्तु लता ने बीच में ही रोक कर कहा—'यह क्या करते हो?' रमेश ने लता को हृदय से लगाते हुए कहा—'सुबह का भूला शाम को घर लौट आता है, तो वह क्षमा के योग्य हो जाता है। यह मेरी गलती का दंड है, जो मुझे मिलना ही चाहिये था। मैं पिताजी से उतना नहीं डरता, जितना तुम्हारी दृष्टि में अपराधी बन कर रहने से डरता हूँ। इससे तो मरना ही अच्छा है।'

लता ने अपने हाथ से पति का मुँह बन्द करते हुए कहा—'छिः कैसी बातें करते हो? मुझे ऐसी बातें नहीं सुहातीं, उन्हें ही जाकर सुनाओ।'

लता हँस पड़ी। रमेश ने प्यार से उसका हाथ पकड़कर कहा—'हम लोग कितने मूर्ख हैं प्रिये, जो भारतीय रत्नों को छोड़ कर विदेशी काँच के टुकड़ों पर मरते हैं। धन्य हो देवी! तुम्हें मेरा दंड भुगतने के लिये अपना हार बेचने की जरूरत न होगी। मुझे एक लाटरी में पन्द्रह हजार रुपया मिला था, जिसमें से आठ हजार रुपया मेरे पास रक्खा है। बाकी दो हजार किसी बहाने पिताजी से ले लूँगा। देवी के प्रसन्न हो जाने पर धन की कमी नहीं रहती।'

उस रात को लता कुछ जल्दी अपने कमरे में चली आई। सास से कह दिया आज मेरी तबीअत कुछ खराब है। वह कमरे में जाकर पति के कपड़ों की तलाशी लेने लगी! रमेश उस वक्त तक पिता के पास बैठा था। थोड़े ही परिश्रम से उसे एक

रजिस्टरी किया हुआ लिफाफा मिल गया। लता ने भीतर का पत्र निकाल लिया। इस समय उसके हाथ काँप रहे थे। आँख और कान दरवाजे की ओर लगे थे। पत्र में लिपटा हुआ एक 'क्रिसमस कार्ड' था, जिस पर लिखा था 'दो दिल मिले हुए।' लता ने पत्र पढ़ा। वह उसी अमेरिकन लेडी मिस लीस का था। पत्र का आशय संक्षेप में यह था कि तुम अपने पिता की मृत्यु का समाचार पाकर भारत जाते हुए शीघ्र ही मुझे भी वहाँ ले जाने का वचन दे गये थे, परन्तु आज सात महीने हुए तुमने एक भी पत्र नहीं भेजा। मैं यह मालूम कर चुकी हूँ कि घर में तुम्हारी स्त्री मौजूद है। मैं इससे पहले भारतवासियों को बहुत सच्चा और प्रेम-पथ का दिलेर पथिक समझती थी। खैर, अब एक महीने के भीतर अपने बच्चे के पालन-पोषण के लिये दस हजार रुपये भेज दो। अन्यथा मैं तुम्हारे नाम नालिश कर दूँगी। मैंने तुमसे प्रेम किया था और बदले में पाया भी था, इसी नाते मैं तुम्हें यह सूचना दे रही हूँ। साथ में तुम्हारा दिया हुआ यह 'क्रिसमिस कार्ड' भी लौटा रही हूँ। बाकी उपहार तुम्हारे विरुद्ध प्रमाण स्वरूप अपने पास रख लिये हैं।'

लता अच्छी अँगरेजी जानती थी। इसलिये उसने पत्र का पूरा-पूरा मर्म समझ लिया। पहले तो वह कुछ देर तक सोचती रही, फिर दियासलाई जला कर कार्ड में लगा दी और उसकी भस्म खिड़की से बाहर फेंक दी। कुछ देर बाद रमेश आया, तो हँसती हुई बोली—'आज मुझसे तुम्हारा बहुत नुकसान हो गया है।'

'हाँ, घड़ी-वड़ी तोड़ डाली होगी।'

परन्तु लता ने जोर से हँसते हुए कहा—'नहीं यह कुछ नहीं हुआ। मैंने तुम्हारा पत्र और 'क्रिसमस कार्ड' दोनों चीजें जला दी हैं।'

रमेश पहले तो कुछ उद्विग्न हुआ, पर फिर शान्त होकर बोला—'लता, तुम बहुत शैतान होती जा रही हो। वैसे तो तुमने अच्छा ही किया पर वह कार्ड ही मेरा सच्चा पथ प्रदर्शक था। इस क्रिसमस पर उसने मुझे उपहार का कार्ड दिया था, तो उतनी दूर रहते हुए भी मुझे तुम्हारी याद आ गई थी। परन्तु यह आशा न थी कि इतना शीघ्र तुमसे भेंट हो जायगी। खैर, अब उन बातों को याद करने से क्या लाभ?'

रमेश की बात सुनकर लता मुस्करा दी, पर इस बार उसकी पलकें भीग रही थीं। बोली—'आप चिन्ता न करें प्रियतम, आगामी क्रिसमस पर तुम्हें इससे भी बढ़िया 'क्रिसमस कार्ड' भेंट करूँगी।'

'परन्तु नालिश तो न कर दोगी।'

इस पर दोनों खिल-खिलाकर हँस पड़े। उनकी हँसी से सारा कमरा गूँज उठा।

युगान्तर

वह कवि था और शायद उच्चकोटि का लेखक भी, किन्तु सरस्वती का उपासक होते हुए भी वह लक्ष्मी का कृपा पात्र न बन सका। दिन-दिन बढ़ने वाली निर्धनता के आक्रमण पर विजय प्राप्त करना उसके वश की बात न थी, वह बड़ा दीन और असहाय था। यह तो उसे स्मरण ही न था कि उसने अपने जन्मदाता पिता को कब गँवा दिया था। जब होश सँभाला तब देखा कि एक ग़रीब पर परिश्रमी अनाथ अबला ही उसकी एक मात्र संरक्षिका है। उसी के नियंत्रण में रह कर वह न जाने कब और कैसे छोटी-सी बस्ती पियागपुर की पाठशाला में पढ़-लिख कर विद्वानों की श्रेणी में गिना जाने लगा। एक दिन माता के यत्न से ही गाँव के पुरोहित की कन्या को वह गठबन्धन कर के अपने घर ले आया और फिर किशोरावस्था में ही वह कुछ करने के लिए बाध्य किया जाने लगा। जीविका का कोई उपयुक्त साधन न होते देख वह अपने कुछ कच्चे और कुछ पक्के पुश्तैनी मकान की चौपाल में एक छप्पर डाल कर अपनी छोटी-सी पाठशाला खोल बैठा। फसल में कुछ अनाज तथा गुड़, तिल और कपास लड़के अपने-अपने घर से ले आते, कभी-कभी दो-चार आने दक्षिणा स्वरूप आ जाते, वही उस अल्प-वयस्क गुरु

की गुरु दक्षिणा थी। शेष सास बहू अवकाश मिलने पर चर्खा पूनी कर लेती थी। यूँ ही इस छोटे गृहस्थ का काम कुछ थोड़ी-बहुत कठिनाइयों को चीरता हुआ चलने लगा। इसी प्रकार एक युग बीत गया, कभी कुछ सुविधा से और कभी थोड़ी असुविधा से दिन बीतने लगे। ईश्वर की कृपा से परिवार के सभी प्राणी संतोषी जीव थे। थोड़े में ही संतुष्ट होकर आनन्द से दिन बिता रहे थे। दरिद्रता में अधिक कुटुम्ब का बढ़ना कितना दुखदाई होता है, इससे यह परिवार अनजान न था, केवल विवाह के ८ वर्ष पश्चात् एक बालक का जन्म हुआ है। तब से ईश्वर की कृपा है।

(२)

लोग कहते हैं कि ईश्वर बड़ा दयालु है। उसकी सारी करुणा और दयालुता दीन दुखियों के लिए ही सुरक्षित रहती है। किन्तु वास्तव में ऐसा होता नहीं, जो दीन हैं अभाव की उन्हें कमी नहीं रहती, दुखी को विपत्तियाँ बुलानी नहीं पड़तीं, वह स्वयं ही उन्हें घेरे रहती हैं, जिस प्रकार सूम के पास धन। यही दशा नन्दकिशोर तिवारी की हुई। धन का अभाव तो था ही, अब उन पर भी बज्राघात हो गया। बस्ती में जब प्लेग का महा प्रकोप हुआ तब उनकी माता तथा पत्नी पर उसका घातक आक्रमण हुए बिना न रुक सका। एक सप्ताह में दोनों सास बहू चल बसीं. रह गया चार वर्ष का बालक श्यामू और स्वयं तिवारीजी। गली-मुहल्ले के लोग सहानुभूति भी दिखलाने न आ सके। जलती आग में कौन पैर दे। ऐसी

बीमारी से दूर रहना ही अच्छा है। पास पड़ौसी घर छोड़ कर भाग गए। धीरे-धीरे गाँव खाली होने लगा। कुछ मृत्यु के आक्रमण से और कुछ उसकी भावी कल्पना के भय से अपने-अपने सगे-सम्बन्धियों की शरण में चले गए। जिन्हें कहीं ठिकाना न था वह राम के भरोसे वहीं पड़े रहे। दुर्बल को अन्त में वही तो एक अवलम्ब सूझता है।

तिवारीजी भी इन्हीं में से एक थे। कहाँ जाएँ, कोई भी तो ठिकाना नहीं—बस्ती में सुसराल थी पर वह तो पहिले ही दूसरे गाँव में चले गए। दूसरे ऐसी दशा में उन्हें आश्रय ही कौन देता। तिवारीजी को अपनी तो चिन्ता न थी पर बालक श्याम किशोर के जीवन की रक्षा वह अपने प्राण देकर भी करने को तैयार थे। वही तो उनके जीवन की ज्योति था, वैसे तो चारों ओर अन्धकार ही दीख पड़ता था। पर गाँव में रह कर खायेंगे क्या? पाठशाला भी प्रायः सूनी पड़ी रहती, सब को अपने प्राणों की चिन्ता थी न कि शिक्षा का ध्यान। बच्चे को खाने के लिए एक टुकड़ा रोटी भी जुटाना कठिन हो गया। तिवारीजी ने बहुत सोचा—अपना घर छोड़कर किसी के द्वार पर जाकर पड़े? यद्यपि एक बहिन थी पर वह बहुत दूर गाँव में थी और एक स्वाभिमानी भाई इस प्रकार दीन बन कर वहाँ जाना पसन्द ही कैसे करता। हार कर उन्होंने इलाहाबाद जाने का निश्चय किया और एक दिन बच्चे को गोद में उठा कर घर का ताला बन्द करके तथा आँखों में आँसू भर कर वह स्टेशन की ओर चल पड़े। प्रयाग में पहुँच कर, कई दिन टक्कर खाने के

ले जाते किन्तु वह किसी न किसी पर उलझ ही जाते थे। दिन भर के हारे थके होने पर भी रात को घण्टों तक कुछ न कुछ सोचते रहते थे। यदि किसी दिन वह अपनी विपत्तियों पर विचार धारा को ले जाते, तो उनका दुखित हृदय घबरा उठता था और वह अपने दुख को भूल जाने की चेष्टा में पुनः कोई विषय सोचने लगते थे।

(३)

धीरे धीरे एक वर्ष और बीत गया। अभी तक तो किसी प्रकार बीत गई पर आगे की चिन्ता चैन न लेने देती थी। मालिक बार बार उन्हें अनावश्यक बताकर नौकरी से छुड़ा देने की धमकी देता रहता। पर उनके काम को देख कर छुड़ा देने की हिम्मत भी न होती थी। कहाँ मिलता है ऐसा ईमानदार और कम का वेतन आदमी। इधर श्यामू को छठा वर्ष आरम्भ होगया था। उसकी शिक्षा का भी ध्यान था ही। नन्दकिशोर का मन अब कुछ लिखने-पढ़ने के अतिरिक्त श्यामकिशोर की शिक्षा की ओर अधिक झुकने लगा। रात को एक घण्टा उसे पढ़ाना आवश्यक जान पड़ने लगा। गली मुहल्ले के बच्चों को देख कर उसे भी तख्ती-बुद्का लेकर स्कूल जाने का चाव पैदा होने लगा। तिवारी जी उसकी बुद्धि और लग्न देख कर चकित थे। वह उसे बड़े मनोयोग के साथ पढ़ाने लगे।

एक दिन रात्रि के समय जब पिता-पुत्र भोजन से निश्चिन्त हुए, तब श्यामू ने बड़े आग्रह से कहा—'दादा, डिप्टी साहब कैसे बना जाता है ? अलखधारी कहता है कि मैं खूब पढ़-लिख

कर डिप्टी साहब बनूंगा और तुझे अपना अर्दली बना लूंगा। पर दादा, मैं उसका नौकर नहीं बनने का, उसके दादा तो तुम्हें बहुत डाटते हैं न ?'

'हाँ, होगा...... अच्छा तुम अपनी किताब ले आओ देखें आज क्या पढ़ा है ?'

'अच्छा, पर क्यों दादा ! मैं डिप्टी साहब बन जाऊँगा ?' तिवारी जी बालक की बात सुन कर चकित भी हुए और दुखित भी, किन्तु बालक का मन छोटा न हो यह सोच कर कहा—'हाँ, बनेगा क्यों नहीं ? तुझे डिप्टी बनाऊँगा बेटा।'

अच्छा दादा तुम अलखधारी के दादा की नौकरी क्यों करते हो ? मुझे तो अच्छा नहीं लगता, वह कहता है कि अपने बाप के साथ-साथ तू भी हमारा नौकर है। अब दादा यहाँ मन नहीं लगता, तुम कहते थे कि घर चलेंगे. कब चलोगे घर ? बालक की आज की बातों से तिवारीजी का हृदय बैठा जारहा था। लड़के की बात का कोई उचित उत्तर उन्हें ढूँढे से भी न मिला। थोड़ी देर तक कुछ सोचते रहे, फिर श्यामू से कहा—'अच्छा, अब तो सो जाओ बेटा, कल पढ़ाएँगे।' और तब खींच कर उसे चारपाई पर लिटा दिया और स्वयं दीवे को बाती तनिक उकसा कर बक्स खोलकर कुछ गिनने लगे। देखा पूरे ५०) हैं जो कि पेट काट कर बड़ी कठिनाई से जोड़े गए हैं। परन्तु यह कुछ कम नहीं है, इन से एक छोटी सी किताबों की दूकान खोली जा सकेगी। और यदि भाग्य ने साथ दिया तो कभी बहुत बड़ी भी हो सकती है। अब मैं नौकरी न

ले जाते किन्तु वह किसी न किसी पर उलझ ही जाते थे। दिन भर के हारे थके होने पर भी रात को घण्टों तक कुछ न कुछ सोचते रहते थे। यदि किसी दिन वह अपनी विपत्तियों पर विचार धारा को ले जाते, तो उनका दुखित हृदय घबरा उठता था और वह अपने दुःख को भूल जाने की चेष्टा में पुनः कोई विषय सोचने लगते थे।

(३)

धीरे धीरे एक वर्ष और बीत गया। अभी तक तो किसी प्रकार बीत गई पर आगे की चिन्ता चैन न लेने देती थी। मालिक बार बार उन्हें अनावश्यक बताकर नौकरी से छुड़ा देने की धमकी देता रहता। पर उनके काम को देख कर छुड़ा देने की हिम्मत भी न होती थी। कहाँ मिलता है ऐसा ईमानदार और कम का वेतन आदमी। इधर श्यामू को छठा वर्ष आरम्भ होगया था। उसकी शिक्षा का भी ध्यान था ही। नन्दकिशोर का मन अब कुछ लिखने-पढ़ने के अतिरिक्त श्यामकिशोर की शिक्षा की ओर अधिक झुकने लगा। रात को एक घण्टा उसे पढ़ाना आवश्यक जान पड़ने लगा। गली मुहल्ले के बच्चों को देख कर उसे भी तख्ती-बस्ता लेकर स्कूल जाने का चाव पैदा होने लगा। तिवारी जी उसकी बुद्धि और लग्न देख कर चकित थे। वह उसे बड़े मनोयोग के साथ पढ़ाने लगे।

एक दिन रात्रि के समय जब पिता-पुत्र भोजन से निश्चिन्त हुए, तब श्यामू ने बड़े आग्रह से कहा—'दादा, डिप्टी साहब कैसे बना जाता है? अलखधारी कहता है कि मैं खूब पढ़-लिख

कर डिप्टी साहब बनूंगा और तुझे अपना अर्दली बना लूंगा। पर दादा, मैं उसका नौकर नहीं बनने का, उसके दादा तो तुम्हें बहुत डाटते हैं न ?'

'हाँ, होगा...... अच्छा तुम अपनी किताब ले आओ देखें आज क्या पढ़ा है ?'

'अच्छा, पर क्यों दादा ! मैं डिप्टी साहब बन जाऊँगा ?' तिवारी जी बालक की बात सुन कर चकित भी हुए और दुखित भी, किन्तु बालक का मन छोटा न हो यह सोच कर कहा—'हाँ, बनेगा क्यों नहीं ? तुझे डिप्टी बनाऊँगा बेटा।'

अच्छा दादा तुम अलखधारी के दादा की नौकरी क्यों करते हो ? मुझे तो अच्छा नहीं लगता, वह कहता है कि अपने बाप के साथ-साथ तू भी हमारा नौकर है। अब दादा यहाँ मन नहीं लगता, तुम कहते थे कि घर चलेंगे. कब चलोगे घर ? बालक की आज की बातों से तिवारीजी का हृदय बैठा जारहा था। लड़के की बात का कोई उचित उत्तर उन्हें ढूँढे से भी न मिला। थोड़ी देर तक कुछ सोचते रहे, फिर श्यामू से कहा—'अच्छा, अब तो सो जाओ बेटा, कल पढ़ाएंगे।' और तब खींच कर उसे चारपाई पर लिटा दिया और स्वयं दीवे को बाती तनिक उकसा कर बक्स खोलकर कुछ गिनने लगे। देखा पूरे ५०) हैं जो कि पेट काट कर बड़ी कठिनाई से जोड़े गए हैं। परन्तु यह कुछ कम नहीं है, इन से एक छोटी सी किताबों की दूकान खोली जा सकेगी। और यदि भाग्य ने साथ दिया तो कभी बहुत बड़ी भी हो सकती है। अब मैं नौकरी न

और सहानुभूति के एक ही झोखे से आँखों के आँसू उमड़ पड़े।

'मेरे बच्चे, मेरे लाल !' कह कर तिवारीजी ने बाबू श्यामकिशोर डिप्टी कलक्टर को हृदय से लगा लिया। कुछ देर पश्चात् दोनों शान्त हुए, तब श्यामकिशोर ने पिता से कहा—'दादा, सुबह पण्डित मलखधारी आप से भेंट करने आए थे। उस समय आप पूजा में थे।'

'हूँ—क्या कहते थे ?'

पुत्र ने कुछ संकोच के साथ कहा—'वही सब...... विवाह की बातें।'

'तुमने क्या उत्तर दिया ?'

'यही कि दादाजी जाने !'

'ठीक किया, लेकिन बेटा मनुष्य का मूल्य रुपए से नहीं आंका जाता, उसके गुणों से देखा जाता है। हम भी वही हैं और वह भी वही हैं, परन्तु तब वह अपने बच्चों का तेरे साथ खेलना भी पसन्द नहीं करते थे और आज अपनी लड़की देना चाहते हैं, यह सब भाग्य का उलट-फेर है। तुझे क्या याद होगा, बच्चे कि मेरा हृदय छलनी हुआ पड़ा है। परन्तु उस परम पिता परमेश्वर को कोटि-कोटि धन्यवाद है कि उसने आज यह दिन दिखाया।'

'मैंने क्या कभी स्वप्न में भी यह सोचा था कि जीवन में कभी ऐसा 'युगान्तर' होगा। अब यदि उनकी कन्या योग्य हुई तो अवश्य मैं उसे अपनी पुत्र वधू बनाने की चेष्टा करूँगा।'